श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

खण्ड 12

* श्रीहरिः *

श्री भागवत दर्शन–

भागवती कथा

(द्वादश खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक :

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक :

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

पञ्चम संस्करण १००० प्रति | भाद्रपद सम्वत् २०४७ अगस्त सन् १९९० | मूल्य १०) रुपया

● प्रकाशक :
संकीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूंसी)
प्रयाग

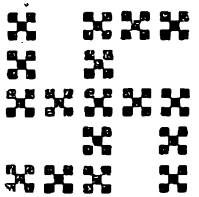

● मुद्रक :
बंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

(द्वादश खण्ड)

विषय		पृष्ठाङ्क
१. सिंहावलोकन		५ से १४ तक
२. ध्रुवजी का तपस्या के निमित्त बदरिकाश्रम गमन		१५
३. ध्रुवजी की ध्रुवलोक प्राप्ति	....	२१
४. ध्रुवजी का माहात्म्य	....	२९
५. ध्रुवजी के वंश का वर्णन	....	३६
६. मृत्युपुत्री सुनीथा	....	४४
७. महाराज अङ्ग का पुत्र-प्राप्ति के लिये यज्ञ	....	५६
८. अङ्ग का क्रूरकर्मा पुत्र वेन	....	६२
९. वेन की क्रूरता के कारण अङ्ग का गृह त्याग	....	६८
१०. राजा बनने पर वेन की निरंकुशता	....	७४
११. मुनियों का जाकर वेन को समझाना	....	८५
१२. वेन द्वारा मुनियों का अपमान और उसकी अपमृत्यु	....	९३
१३. अराजकता निवारण के निमित्त ब्राह्मणों का उद्योग	....	९९
१४. वेन-अङ्ग-मन्थन से भगवान् पृथु का प्रादुर्भाव	....	१०५
१५. महाराज पृथु का राज्याभिषेक	....	१११
१६. महाराज पृथु की सूत मागधों द्वारा स्तुति	....	११९
१७. महाराज पृथु का पृथ्वी पर कोप	....	१२४
१८. महाराज पृथु का पृथ्वी के साथ सम्वाद	....	१३४
१९. महाराज पृथु के प्रभाव से पृथ्वी दोहन	....	१४१

२०. महाराज पृथु द्वारा पृथ्वी का संस्कार १४७
२१. महाराज पृथु की यज्ञ दीक्षा १५६
२२. महाराज पृथु के अन्तिम यज्ञ में इन्द्र द्वारा विघ्न १६६
२३. पृथु-यज्ञ में पुरन्दर द्वारा पुनः विघ्न १७२
२४. यज्ञ में विघ्न करने वाले इन्द्र पर महाराज पृथु का क्रोध १७८
२५. ब्रह्माजी के समझाने पर महाराज पृथु का क्रोध शान्त, यज्ञ की समाप्ति १८४
२६. महाराज पृथु और इन्द्र में प्रेम कराने को प्रभु प्राकट्य १६२
२७. महाराज पृथु का प्रेमोद्रेक २००
२८. महाराज पृथु का प्रभु से विचित्र वरदान २०६
२६. महाराज पृथु का पादसेवन सम्बन्धी वर २१४
३०. यज्ञों के अन्त में महाराज पृथु का पुर प्रवेश २२०
३१. महाराज पृथु का महासत्र में अभिभाषण २२७
३२. प्रजा द्वारा महाराज पृथु के उपदेश का अभिनन्दन २४३
३३. महाराज पृथु की सभा में सनकादि सिद्धों का प्रादुर्भाव २४६

—•—

सिंहावलोकन

सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत्स्रोतसां तदिदं जलम्।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २२ अ० ४४ श्लोक)

छप्पय

हैं नट नागर श्याम करें क्रीड़ा नित नूतन।
मोर मुकुट सिर धारि बजावें बन्शी वन-वन॥
जो न मोह वश करें कृष्ण तिनतें करवावें।
सबहिँ नचावत राम कृष्ण नाचें नचवावें॥
तुमरे सङ्गई नाचिकें, तुमरो ई गुन गाइके।
तुमरी कथा सुनाइकें, सोवे सबहिँ भुलाइके॥

यहाँ प्रतिष्ठानपुर (झूसी) में इसी अनुष्ठान के निमित्त आये दो वर्ष ६ महीने २३ दिन आज हो गये। सङ्कल्प कुछ और किया था हो गया कुछ और। विनायक बनाना चाहते थे, बन गया बानर। वैरागी बनाना चाहते थे, बन गये व्यापारी। छिपकर रहना चाहते थे, छपाई के चक्कर में फँस गये। संसार के सभी सम्बन्धों की ओर से आँखें मींच लेना चाहते थे, अब अधिकाधिक सम्बन्ध बढ़ाने की चिन्ता बढ़ गयी। भगवान् की कैसी माया है,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"जिन लोगों की वाणी, बुद्धि और आयु व्यर्थ है वे ऐसी बात कहा करते हैं कि यह वही दीप की लोये हैं, जो हमने कल देखी थी। यह वह नदी का जल है, यह वही मनुष्य है। किन्तु वास्तव में ये सब वे नहीं। ये तो बदलते रहते हैं।"

लीलाधारी की कैसी लीला है। क्षण-क्षण पल-पल पर प्रत्येक वस्तु बदलती जाती है, किन्तु हम ऐसे मूढ़ हैं कि उसकी ओर ध्यान नहीं देते। समझते हैं यह वही तो है। संसार के परिवर्तन ऐसी चतुरता से होते हैं कि सहसा कोई उनका अनुभव नहीं कर सकता। सर्वथा बदलने पर ही प्रतीत होता है सो भी स्वार्थ वश। जाड़ा सहसा नहीं आ जाता, गर्मी के अनन्तर वर्षा होती है, कुछ ठण्डी प्रतीत होने लगती है, फिर गुलाबी जाड़ा पड़ता है, तदनन्तर कड़ाके का। जाड़े का सहसा अन्त भी नहीं होता, पहिले कुछ कम सर्दी होने लगती है। गरम वस्त्र सहन नहीं होते, फिर वसन्त ऋतु आती है, तब आग बरसने लगती है। मनुष्य जिस दिन जाड़ा पड़ता है। उस दिन तो कहता है बड़ा जाड़ा है, किन्तु दूसरे दिन भूल जाता है। सर्दी में गर्मी को भूल जाता है, गर्मी में सर्दी को। याद भी कहाँ तक रखे, एक-सा ही चक्र है, कभी ऊपर कभी नीचे। सादृश्य में भ्रम हो ही जाता है। नित्य ही हम त्रिवेणी स्नान करने जाते हैं, कहते हैं—"कल यहीं इसी जल में नहाये थे। किन्तु कल का जल तो न जाने कहाँ चला गया, कहाँ बह गया, हमें भ्रम सादृश्य से हो गया। कल के ही जल के समान बहुत-सा जल आ गया। कल जिस देवदत्त को देखा था, आज भी उसे देखकर हम कहते हैं—यह देवदत्त हैं, किन्तु कल के देवदत्त में और आज के देवदत्त में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया। उसके प्रत्येक अणु परमाणु में परिवर्तन हो गया। हमें परिवर्तन की प्रतीति तब होती है, जब उसके ओठों पर कालिमा छा जाती है, दाढ़ी मूछों वाला बन जाता है, या काली दाढ़ी मूछें सफेद हो जाती हैं। सो उसे तो वह भी परिवर्तन नहीं दीखता। वह समझता है मैं तो जैसा-का-तैसा ही हूँ। इसमें सत्यांश है, किन्तु भ्रम वश उसके मर्म को नहीं समझता, सादृश्य के कारण भ्रम में पड़ जाता है। संसार एक नाटक है। सभी छोटे-बड़े जीव इस

जगत् नाट्यस्थली के पात्र हैं। सूत्रधार जिसे जैसा नाच नचावेगा उसे वैसा ही नाच विवश होकर नाचना ही पड़ेगा। इसमें अपनी इच्छा कुछ भी काम न करेगी। स्मरण करने की एक ही बात है। हम स्वयं नहीं नाच रहे हैं, हमें कोई नचा रहा है। इन शब्दों को वाणी से तो प्रायः सभी कहते हैं, किन्तु अन्तःकरण से इसका अनुभव विरले ही करते हैं। जो कहते हैं, वे तर जाते हैं, इस खेल में मिल जाते हैं, उन्हें बन्धन नहीं, विवाद नहीं, दुःख नहीं, चिन्ता नहीं। बन्शी वारे के साथ चैन की बन्शी बजाते हैं। और तान दुपट्टा सो जाते हैं। इसलिये साधन यही है। "कृतंस्मर" किये हुए को स्मरण करो। प्रतिक्षण सिंहावलोकन करो। या तो अपनी कोई इच्छा हो ही नहीं या जो हो जाय तो उसी की इच्छा मानी जाय।

जीव जब भगवान् के अनुकूल होता है, उनके सङ्कल्प में अपना सङ्कल्प मिलाकर कार्य करता है, तब तो उसे सफलता प्राप्त होती है। इसके विपरीत जीव का सङ्कल्प कुछ है, सर्वेश्वर का सङ्कल्प इसके विपरीत है तो जीव का सङ्कल्प मृषा है—व्यर्थ है। वह सफल न होगा। क्योंकि एक के ही सङ्कल्प से यह सम्पूर्ण सृष्टि-कार्य चल रहा है। वही सत्य सङ्कल्प सबके अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर हृदय देश में विराज कर सबको नाच नचा रहा है। सबको चक्कर फेरी दिला रहा है। पुनः-पुनः स्मरण करने से दृढ़ता आती है। हम दिन में रात्रि में कितने मनोरथ करते हैं कितने बालू के क़िले बनाते हैं। वे बात-की-बात में बिगड़ जाते हैं, क्षण भर में ढह जाते हैं। हम मुँह ताकते ही रह जाते हैं। जो विश्व की रचना करके उसके अणु-परमाणु में प्रवेश कर गया है, जिसने बनाने का, पालन करने का और फिर बिगाड़ने का स्वयं ही अपने नाम पट्टा लिखा लिया है, फिर हम उसके कार्यों में हस्तक्षेप करते हैं, दुःख करते हैं कि हमारी इच्छा के विरुद्ध यह कार्य क्यों हो रहा

है ? हम तो इसे जीवित देखना चाहते थे, यह क्यों मर गया ? तो यह अनाधिकार चेष्टा है। जो हो रहा है उसे देखो। जिसका जो काम है वह करेगा ही, वह होकर ही रहेगा। तुम तो सूत्रधार की ओर दृष्टि रखो। किये का स्मरण करो। उससे शिक्षा ग्रहण करो। अपनी परवशता और प्रभु की स्वतन्त्रता का अनुभव करो। अपने कर्तृत्व को उसके कर्तृत्व में मिला दो। अपना स्वर पृथक् अलापने से बेसुरा राग हो जायगा। अपनी ध्वनि उसकी वंशी की ध्वनि में मिला दो। अपनी वंशी को भी उसकी वंशी में एकीभूत कर दो। वंशी वाला तो एक ही है।

हाँ तो मैं क्या कह रहा था भला ? वही बात, यहाँ आये ढाई वर्ष से अधिक हो गया। सोचा यह था कि यह नेह आँखों से ही विशेष बढ़ता है। किसी की ओर हम चर्म चक्षुओं से देखें ही नहीं तो अन्तःकरण की आँखों से उसका यथार्थ रूप देखा जाता है। ये चर्म की आँखें बाहर के काले गोरे चर्म को तथा बनावटी चाक-चिक्य को ही देख सकती हैं। इसी से लुभा जाती हैं, फँस जाती हैं। यदि इनको मींचकर भीतर-ही-भीतर अनुभव करें तो यथार्थ का बोध होता है। यथार्थता में तो बन्धन है ही नहीं। इसलिये ऐसा नियम करने का निश्चय किया था कि किसी की ओर देखेंगे नहीं। कथा कीर्तन में समय बितायेंगे। जो समय मिलेगा उसमें अपने लेखन के व्यसन की पूर्ति करेंगे।

बहुत से ऐसे भाग्यशाली हैं, जिन्हें भगवान् में, कथा कीर्तन में बड़ा रस आता है, तन्मय हो जाते हैं। मेरा हृदय ऐसी कठिन धातु का बना है कि मुझे कथा कीर्तन में यथार्थ रस नहीं आता मान-प्रतिष्ठा के लिये या नियम की पूर्ति के लिये कथा सुनता हूँ, कीर्तन करता हूँ, किन्तु उसमें जैसा चाहिये वैसा रस नहीं आता है। मिथ्याचार, दम्भ, दिखावट की मात्रा इनमें अधिक है। फिर भी एक प्रकार का व्यसन-सा हो गया है, इच्छा से, अनिच्छा से

करना ही पड़ता है। इसी प्रकार मुझे लिखने का भी व्यसन है। कुछ लोग कहते हैं—"महाराज! आप बड़ा उपकार कर रहे हैं। साहित्य की बड़ी सेवा कर रहे हैं, कथा कीर्तन का बड़ा प्रचार कर रहे हैं।" इन बातों को सुनकर मुझे अभिमान न होता हो, सो बात नहीं। किन्तु जब मैं गम्भीरतापूर्वक सोचता हूँ, क्या मैं सेवा भाव से, परोपकार की प्रेरणा से, प्रचार दृष्टि से यह सब कर रहा हूँ तो उत्तर मिलता है नहीं। यह सब कुछ नहीं, तुम अपनी वासना-पूर्ति के लिये ये सब व्यापार कर रहे हो।

आज से २०-२५ वर्ष पूर्व मैं साहित्यिक जीवन व्यतीत करता था, उस समय जितने साहित्य सेवियों से मेरा संसर्ग हुआ, जिनके नामों को मैं बड़ी श्रद्धा से सुनता और पढ़ता था, उनके जीवन में अत्यन्त व्यवहारिकता और वृथा विषयों में तृष्णा देखकर मैंने अनुभव किया कि लेखन एक कला है। सभी सुन्दर लेखक सच्चरित्र और आदर्श जीवन व्यतीत करने ही वाले हों, यह आवश्यक नहीं। इसके पूर्व मेरी यही धारणा थी कि जिनके लेखों को पढ़कर हम रो उठते हैं वे सब-के-सब आदर्श महापुरुष ही होंगे। पहिले मेरी लेखक बनने की प्रबल इच्छा थी। कुछ ही दिनों में लेखक बनने की मेरी इच्छा जाती रही। साधु बनने की इच्छा हुई। प्रकाशकों के प्रति मेरे कैसे भाव हो गये थे, उन्हें मैं अब कभी न बताऊँगा। क्योंकि उसे सुनकर प्रकाशक मुझसे बहुत अप्रसन्न हो जायेंगे, फिर आज कल तो मैं भी एक प्रकार से प्रकाशक ही बन गया हूँ। अपने ही हाथों अपने पैरों में कुल्हाड़ी क्यों मारूँ।

मैंने कई बार ऐसे कड़े-कड़े नियम किये कि लेखनी से न लिखूँगा, लेख न लिखूँगा, पुस्तकें न लिखूँगा। किन्तु रहा नहीं गया, इसलिये अबकी मैंने निश्चय किया था—कि लिखूँगा अवश्य लिखूँगा—किन्तु भगवत् और भागवत चरित्र लिखूँगा। लिखने

का जब व्यसन ही है तो उसका उपयोग भक्त और भगवान् के पावन चरित्रों के लिखने में क्यों न किया जाय ? इसीलिये "भागवती कथा" का लेखन आरम्भ हुआ। वास्तव में मुझे भगवान् और भागवत् भक्तों के सम्बन्ध में लिखने में लिखते समय आनन्द आता है। व्यवहार में तो मुझे रहना ही पड़ता है। अन्य व्यवहारिक बातें भी विवश होकर लिखनी पड़ती हैं, किन्तु उनमें उतना रस नहीं आता। दूसरों का मन रखने के लिये व्यवहार बनाये रखने के लिये ये सब लिखनी ही पड़ती हैं। मुझे कोई लेखनी दे दे और एकान्त में बैठने का समय दे दें। किसी से भी मिलने न दे तो मैं निरन्तर लिखता ही रहूँगा। भगवत् चरित्र तो अनन्त हैं, उसका अन्त नहीं, अवसान नहीं, सीमा नहीं, समाप्ति नहीं। किन्तु सम्भव है ऐसे मैं रह भी न सकूँ। कुछ धूम-धड़ाका भी होते रहना चाहिये। उत्सव धूमधाम ये सब होते रहते हैं तो मन बदल जाता है। कुछ कटु अनुभव होते हैं, कुछ स्नेही बन्धु मिलते हैं, ये सब तो चटनी हैं। भावोद्दीपक हैं।

हाँ, तो मैंने कार्तिक मास से भागवती कथा का लिखना आरम्भ किया। ६ महीने में ८-१० खण्ड लिख भी गये। लेखक का लिखने में उत्साह तभी बढ़ता है, जब उस गुण को जानने वाले गुणी उसकी कृति की प्रशंसा करें। अब इस कल के युग में प्रशंसा तो तभी होगी, जब पुस्तक प्रेस में छपकर प्रकाशित हो और विद्वानों के सम्मुख जाय। इसलिये लेखक के साथ प्रकाशन की भी चिन्ता हुई। यह प्रशंसा मेरे लिये दुखद थी, किन्तु संसार में सुख-ही-सुख तो नहीं मिल सकता। सुख में दुख मिला ही रहता है। पाटल के पुष्प में काँटे रहते ही हैं। कड़वी औषधि के समान मैंने प्रकाशन के लिये प्रयत्न किया। कथा लम्बी है प्रकाशक कोई मिला नहीं। सबने कहा—"सङ्कीर्तन-भवन से ही प्रकाशन हो।" वाद-विवाद के पश्चात् मैंने कहा—"अच्छा हो।" बस, फिर

क्या था, होने लगा धूम-धड़ाका। यह ला, वह ला, स्थान बना, उसे बुला, सारांश यह कि पूरी गृहस्थी जुटने लगी। पास में पैसा नहीं था। काम आरम्भ कर दिया, सभी काम ऐसे ही आरम्भ हुए और सब प्रभु के प्रताप से पूरे भी हुए। यही एकमात्र भरोसा था। जिस समय भागवती कथा का कार्य आरम्भ हुआ था, उस समय कागद की कतरन मिलनी दुर्लभ थी। बीच में कितने-कितने विघ्न आये। कितनी-कितनी असुविधायें हुईं। भगवान् ने व्यवहार की कैसी-कैसी लीलायें दिखायीं, ये सब बातें बड़ी लम्बी हैं, क्षुद्र हैं, व्यावहारिक हैं। कथा कीर्तन प्रेमी बन्धुओं को इनसे बचते ही रहना चाहिये। इसलिये इन सब बातों को मैं छोड़ देता हूँ। इतना ही कहना चाहता हूँ कि साल भर में तो नहीं, डेढ़ साल में हम पूरे १२ खण्ड निकाल सके। जिनकी ऐसी शङ्का थी कि कहीं हमारे रुपये खटाई में न पड़ जायँ उनकी शङ्का निर्मूल हुई। १२ खण्डों के जितने रुपये उन्होंने दिये थे, उनकी प्रतियाँ उन पर पहुँच गयीं। मुझे इस बात का हर्ष है कि इस ग्रन्थ को साधारण से लेकर बड़े-बड़े विद्वानों तक ने सराहा। मुझे तो अपने किये का पारिश्रमिक मिल गया। अब मेरी पाठकों के चरणों में यही प्रार्थना है कि वे ऐसा आशीर्वाद दें जिससे यह ग्रन्थ पूरा हो जाय।

मुझे ही इसके प्रकाशन का झंझट करना पड़ता है, इससे मुझे बड़ी असुविधा है। यह नीरस और मेरी इच्छा के विरुद्ध कार्य भगवान् ने मुझे क्यों सौंपा, इसे वे ही जानें। अब तक तो बहुत ही असुविधायें रहीं। अब कुछ परिस्थिति अनुकूल आई है, अब हमें कागद प्रतिमास स्थाई मिल जायगा। प्रबन्ध का कार्य भी एक सज्जन ने अपने ऊपर ले लिया है। ५ हजार रुपये ऋण रूप में उन्होंने अगले खण्डों के लिये दिये हैं, इस प्रकार मेरी आधी से अधिक असुविधायें दूर हो गयीं। छपाई की उचित

व्यवस्था होने पर प्रतिमास दो खण्ड निकाल सकें इसकी व्यवस्था कर रहे हैं। सम्भव है इस व्यवस्था में हमें साल ६ महीने लग जायँ।

स्थान-स्थान पर इसकी कथायें होती हैं। नित्य ही बहुतों के पत्र आते हैं, आप समय से पुस्तक क्यों नहीं निकालते। क्या आपको हमारी उत्सुकता का अनुभव नहीं होता। अब मैं कैसे कहूँ कि मुझे अनुभव नहीं होता। लिखने वाले सज्जन यदि लेखक होते तो उन्हें पता चलता कि लेखक अपनी कृति को छपी देखने के लिये कितना लालायित कितना उत्सुक रहता है। पाठकों से अधिक प्रकाशन की उत्सुकता तो मुझे है। इस भागवती कथा के पीछे मेरा तो सब कुछ बदल गया। न वैसा पहिले भजन, पूजन, पाठ करता था वैसा भजन पूजन पाठ ही होता है। पहिले भगवन्नाम के अतिरिक्त कोई दूसरा शब्द मुख से निकलता ही नहीं था। अब व्यवहार में अत्यन्त तन्मय हो जाने के कारण बीच-बीच में बहुत से व्यावहारिक शब्द स्वतः ही निकल जाते हैं, बुद्धि व्यवसायात्मिका हो गई है। फिर भी मेरी इच्छा है भागवती कथा का प्रकाशन बन्द न हो। प्रति मास दो-दो खण्ड प्रकाशित हो सकें। प्रभु को कराना क्या है उसे तो वे ही जानें। परोपकार की दृष्टि से नहीं, मुझे तो कथा कीर्तन की धूमधाम में आनन्द आता है। सर्वत्र भगवन्नाम कीर्तन का प्रचार हो, स्थान-स्थान पर अखण्ड कीर्तनों का आयोजन हो। सभी भाषाओं में भागवतो कथा की जाय। जहाँ-जहाँ से भागवती कथा प्रकाशित हो वहाँ-वहाँ अखण्ड कीर्तन भी हो। ५-६ वर्ष पूर्व जब दक्षिण की यात्रा में हम गये थे, गुण्टूर में श्री रामनाथ क्षेत्र में श्री सीताराम मन्दिर में अखण्ड कीर्तन आरम्भ हुआ था। वह अभी तक चल रहा है। अब वहाँ से तेलगू में भागवती कथा का अनुवाद भी प्रकाशित होने लगा है। प्रथम खण्ड छपकर हमारे पास

आ गया है। १।) में वे किसी प्रकार भी नहीं छाप सके। बिना जिल्द की २) और सजिल्द की २।) दक्षिणा उन्होंने रखी है। हमें आशा है कि इसी प्रकार गुजराती, मराठी, बँगला, तामिल, अँगरेजी आदि भाषाओं में भी उसके अनुवाद निकालेंगे और साथ ही वहाँ अखण्ड कीर्तन का भी आयोजन होगा। करने कराने वाले वे ही प्रभु हैं, उनकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता। अन्त में मुझे पाठकों से यही प्रार्थना करना है कि यदि आपको भागवती कथा में रस आता है तो आप उसका आस्वादन अकेले न करें। मीठी वस्तु को बाँटकर खाना चाहिये। अपनी पुस्तक को दूसरों को पढ़ने न दें। अपने आस-पास के रहने वालों को बुलाकर, मिलकर कथा सुनें। अपने इष्ट मित्रों को इसके स्थायी ग्राहक बनावें। जो समर्थ हों वे अपने परिवार में इस पुस्तक को अवश्य रखें। क्योंकि बच्चे कहानियों के लोभ से इन्हें पढ़ेंगे तो उनमें धार्मिक भावों की अभिवृद्धि स्वतः ही होगी। भारत धर्म-प्रधान देश है। इसमें धर्म सिखाया नहीं जाता। यहाँ की जलवायु के कणों में ऐसे भाव भरे हैं कि उनसे स्वयं धार्मिक प्रवृत्ति होती है। केवल प्राचीन आख्यानों से उन्हें जाग्रत करना है, स्मरण दिलाना है।

अन्त में मेरी सभी भाई-बहिनों के चरणों में प्रार्थना है कि मैं लोहे का कोल्हू ही बना रहूँ कि जिसमें से निकले तेल से दूसरे तो लाभ उठायें, वह सूखा ही बना रहे। मेरे हृदय में भी सरसता का सञ्चार हो, मुझे भी भागवत और भगवद्भक्तों की कथाओं में अनुराग हो। मेरी भी नाम-गान में यथार्थ रुचि हो। मैं भी भगवान् के लिये रोऊँ। मेरी भी सूखी आँखें गीली हों। मेरे भी शुष्क हृदय में प्रेम की टीस उठे। मेरा भी मन माधव की स्मृति में सिहर उठे। बोल दे भक्त और भगवान् की जय।"

छप्पय

हे हरि ! कब ये नयन रहें मदमहँ मदमाते ।
श्रवण श्रवण कब करें कथा रसमहँ सरसाते ॥
कब होवै हिय द्रवित रूप रसमहँ डूब्यो नित ।
निरखि अलौकिक छटा छक्यो कब रहे कठिन चित्त ॥
कब हौं घायल सो बन्यो, हाय हाय डकराउँगो ।
कब सब तजि हिय हुलसिके, वृन्दावनकूँ जाउँगो ॥

ध्रुवजी का तपस्या के निमित्त बदरिकाश्रम गमन

[२४६]

आत्मस्त्र्यपत्यसुहृदो बलमृद्धकोश-
मन्तःपुरं परिविहारभुवश्च रम्याः ।
भूमण्डलं जलधिमेखलमाकलय्य
कालोपसृष्टमिति स प्रययौ विशालाम् ॥*

(श्री० भा०, ४ स्क०, १२ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

आये निज पुर करे यज्ञ बहु वैभव वारे ।
पुण्य भोगतें पाप यज्ञ तपतें सब जारे ॥
सुत, दारा, धन, धान्य जानि नश्वर सब त्यागे ।
राज पुत्रकूँ सौंपि सतत तपमें ई लागे ॥
करे सुकृत सब सुख लहे, फिर ध्रुव वनवासी भये ।
तजि सबरे गृह भोग सुख, बदरीवनकूँ चलि दये ॥

संसारी भोग यदि सुख बुद्धि से आसक्त होकर भोगे जायँ तो वे बन्धन के हेतु हैं उनसे संसार का आवागमन और दृढ़तर

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! ध्रुवजी अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र, सेना, सम्पत्ति सम्पन्न कोश, अन्तःपुर, रमणीय विहारभूमि तथा समुद्र ही है मेखला जिसकी ऐसी पृथ्वी के राज्य आदि सभी को कालकवलित समझकर तपस्या करने बदरीबन चले गये ।"

होता जाता है, किन्तु यदि वे ही पुण्य क्षय करने के निमित्त अनासक्त भाव से भगवत् प्रीत्यर्थ धर्मपूर्वक भोगे जायँ तो उनसे पुनरावर्तन नहीं होता। वे क्षेत्र में बोने पर भी उसी प्रकार अंकुरित नहीं होते, जैसे भुने हुए दाने उर्वरा भूमि में यत्नपूर्वक बोने पर भी उत्पन्न नहीं होते, उनमें अंकुर नहीं फूटते। वर्णाश्रम धर्म त्यागमय है, इसमें पग-पग पर त्याग की महत्ता है। बाल्यकाल में गृह को त्यागकर गुरुकुल में निवास करो। वहाँ भोगों को त्यागो, सुख को त्यागो, मान-अपमान को त्यागो, रात्रि-दिन गुरु की सेवा करते हुए अपने मनोबल को त्यागते हुए महात्याग की तैयारी करने के लिये ज्ञानार्जन करो। फिर आकर दारग्रहण-स्त्री का संग्रह करो। यह संग्रह भी भोग के लिये नहीं, त्याग के लिये। पञ्च-महायज्ञ नित्य प्रति करके सम्पूर्ण भूतों के निमित्त कुछ-न-कुछ त्याग करो। देवता, पितर तथा ऋषियों के ऋण से उऋण हो यज्ञादिक करके देवऋण से श्राद्धतर्पण और पुत्रोत्पादन करके पितृऋण से और वेदाध्ययन ज्ञानाजन करके ऋषिऋण से उऋण होना पड़ता है। जब उऋण हो गये, पुत्र के भी पुत्र हो गया तो घर, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, सम्पत्ति, नगर, परिवार सभी को त्यागकर वनवासी बन जाओ। ग्राम्य अन्न को भी न खाओ। वन के फल-मूलों पर ही निर्वाह करो। किन्तु वहाँ भी यज्ञादि कर्म तथा काया को शोधन करने वाले तप का तो अनुष्ठान करते ही रहो। अन्त में उन सबको त्यागकर महात्याग की दीक्षा ले लो। परिव्राजक बन जाओ। अलिग संन्यास, वीर संन्यास, दण्ड संन्यास जो जिसके भी अधिकारी हों उसी को ग्रहण करके इस लोक को ही नहीं आवागमन के चक्कर को ही त्याग दो। अर्थात् त्याग की भावना को भी त्यागकर निर्मुक्त बन जाओ।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! ध्रुव ने ५ वर्ष की आयु में ही अपने पूर्व जन्मोपार्जित तप के प्रभाव से श्रीहरि का

साक्षात्कार किया था। भगवत् दर्शनों से उनके वेदमय शङ्ख के स्पर्शमात्र से ही उन्हें समस्त वेदशास्त्रों का ज्ञान हो गया था, फिर भी लौकिक रीति से उन्होंने वैदिक संस्कार कराके विधिवत् वेदाध्ययन किया। भ्रमि और इला नाम की दो नारी रत्नों के साथ विवाह किया। उनमें पुत्र उत्पन्न किये। समस्त भूमण्डल का धर्मपूर्वक एकछत्र शासन किया। ३६ हजार वर्ष तक बिना बूढ़े हुए सांसारिक भोगों को भोगते रहे। यज्ञादि करके संसार में अपना यश बढ़ाया, समस्त कर्मों को करके उन्हें कृष्णार्पण करते हुए वे उनके फलों में आसक्त नहीं हुए। जब उन्होंने ज्ञानदृष्टि से देखा कि अब मेरा अन्त समय निकट आ गया है तो वे राज्य भोग आदि से उपराम हो गये। यदि भोगों में उनकी आसक्ति होती तो उन्हें छोड़ ही नहीं सकते थे, विवश होकर यदि छोड़ना पड़ता तो उन्हें महान् कष्ट होता, किन्तु वे तो सब कार्य अनासक्त होकर करते थे। अतः उन्हें इन संसारी पदार्थों का मोह त्यागने में तनिक भी कष्ट नहीं हुआ। उन्होंने समस्त सांसारिक सुख ऐश्वर्य और राज्य को उसी तरह त्याग दिया जैसे सर्प अपनी कैंचुली को त्याग देता है। उन्होंने विचारा—'क्षत्रिय होकर मुझे घर पर, खटिया पर पड़े-पड़े इस शरीर को नहीं त्यागना चाहिये। क्षत्रिय की दो ही मृत्यु सर्वश्रेष्ठ बताई है, या तो धर्म-युद्ध में लड़ते-लड़ते सम्मुख शत्रु के द्वारा मारा जाय या वन में जाकर योगाग्नि से इस शरीर को भस्म कर दे।'

युद्ध में तो उन्हें परास्त करने वाला कोई भूमण्डल पर था ही नहीं, अतः उन्होंने उसी उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया, जिसमें जाकर धर्मात्मा ब्रह्मर्षि राजर्षि फिर लौटते नहीं। जिस दिशा में समस्त धर्मात्मा पुरुष अपने प्राण त्यागने के निमित्त अनादि काल से जाते रहते हैं।

अन्त समय समझकर उन्होंने अपने पुत्र को भूमण्डल के चक्र-

वर्तिपद पर स्वयं अभिषक्त कराया और वे सबसे अनुमति लेकर विशालापुरी को जाने के लिये उद्यत हुए। "महाराज ध्रुव राज्य-पाट छोड़कर बदरीवन जा रहे हैं।" यह बात, बात-की-बात में समस्त देशान्तरों में फैल गयी। प्रजा के लोग जो उनके राज्य में परम सुखी थे, जिनका ध्रुवजी अपने सगे पुत्रों की भाँति पालन करते थे वे उनके समीप आ-आकर रोने लगे और कहने लगे— "प्रभो! आप हमारा त्याग न करें, इसी प्रकार सदा हमारा पालन करते रहें। अन्तःपुर की स्त्रियाँ भी रो रही थीं कि महाराज! हमें यहाँ न छोड़ें। बूढ़ी माता ध्रुवजी के साथ चलने का आग्रह कर रही थी, किन्तु ध्रुवजी ने अपना चित्त सबकी ओर से हटा लिया था। सबको सब प्रकार से समझा-बुझाकर, समस्त प्रजा को रोती छोड़कर वे अपने नगर से निकल पड़े। इस सम्पूर्ण प्रपञ्च को वे मन से मिथ्या और गन्धर्व नगर के समान मिथ्या भासने वाला समझते हुए सबकी ममता छोड़कर चल पड़े। उन्होंने भूमण्डल का समस्त राजपाट, सभी सांसारिक सुखों को शरीर से ही नहीं मन से भी त्याग कर दिया था। इन सबको त्यागकर मुमुक्षुओं की एकमात्र शरण्य, ऋषि-मुनियों से सेवित श्रीबदरीवन की पावन भूमि में वे पहुँच गये। जब विशालापुरी के निवासी ऋषि-मुनि और सिद्धों ने सुना कि राजर्षि ध्रुव अपना राजपाट छोड़कर बदरिकाश्रम में तप करने आये हैं तो उन्होंने बड़े प्रेम से ध्रुवजी का स्वागत सत्कार किया। उनकी कुशल पूछी, कन्द मूल फल खाने को दिये और भगवती अलकनन्दा के निकट एक शान्त एकांत स्थान में उनके लिये पर्णकुटी बना दी।

वहाँ पहुँचकर ध्रुवजी उसी प्रकार प्रसन्न हुए, जैसे कोई पिंजड़े का पक्षी बन्धन से छूटकर अरण्य में जाकर प्रसन्न होता है, जैसे मछली अगाध जल में पहुँचकर प्रमुदित होती है, जैसे कन्या सत्कुल में पहुँचकर सुखी होती है। विशालापुरी की तपो-

मय भूमि में उनका चित्त स्वतः ही शान्त हो गया था। उन्होंने कलकलनिनादिनी समस्त अघसंहारिणी, विष्णुपादाब्ज सम्भूता भगवती अलकनन्दा में जाकर विधिवत् स्नान किया। फिर शुद्ध चित्त होकर कुश कास के बने आसन पर मृग चर्म और वल्कल-वस्त्र बिछाकर बैठे। तदनन्तर उन्होंने प्राणों को जीतकर मन और इन्द्रियों का निरोध किया फिर अविच्छिन्न रूप से भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करते-करते समाधि में ऐसे तल्लीन हुए कि उन्हें ध्याता ध्येय तथा ध्यान का भान ही न रहा। वे आनन्द के अथाह सागर में निमग्न हो गये।

उस भक्ति की भावमय समाधि में सदा भावित रहने के कारण उनके दोनों कमल नेत्रों से निरन्तर प्रेमाश्रु बहते रहते थे। ज्यों-ज्यों आँखों में आँसू बहते थे, त्यों-त्यों हृदय द्रवीभूत होता था।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब तक आँखों से प्रेमाश्रु नहीं बहते तब तक हृदय पिघलता नहीं। करुणा उत्पन्न नहीं होती। जिनकी आँखें सूखी रहती हैं, उनका हृदय भी प्रायः शुष्क तथा रूखा ही बना रहता है। ऐसे लोग ज्ञानभासी भले ही बन जायँ, भक्ति से तो वे सदा दूर ही बने रहते हैं। हृदय जब पिघलता है तो वही आँसू बनकर बाहर आता है। कुछ ढोंगी आँसुओं के स्थान में अभ्यासवश मीड़-माड़कर पानी निकाल लेते हैं, वे तो दम्भी हैं, उनकी मुखाकृति से ही स्पष्ट हो जाता है, यह सब ढोंग है। हृदय के निकले हुए अश्रुओं का भी पाषाण हृदय पर भी प्रभाव पड़ता है। हृदय तो हृदय की भाषा को समझ जाता है। ध्रुवजी की आँखें सदा प्रेमाश्रु ही बहाती रहती थीं। उनके सम्पूर्ण शरीर में रोमाञ्च हो जाते। फुरहुरी आते ही शरीर के रोम उसी प्रकार खड़े हो जाते जिस प्रकार कुपित हुई स्याही के शरीर में काँटे खड़े हो जाते हैं। अब वे प्रेम में अपने आपको

ऐसे भूल गये कि उन्हें इस बात का भी ध्यान नहीं रहा कि मैं पहिले कभी राजा रहा था। मैं स्वायम्भुव मनु का पौत्र तथा महाराज उत्तानपाद का पुत्र हूँ, मेरा नाम ध्रुव है। अब तो वे प्रेममय बन गये। भगवान् का ध्यान ही उनका सच्चा स्वरूप हो गया।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार ध्रुवजी निरन्तर भगवान् के ध्यान में मग्न रहने से देश काल अवस्था सभी से ऊपर उठ गये। वे भगवत् चिन्तन में तदाकार हो गये।"

छप्पय

बदरीवनमहँ जाय अलकनन्दामें न्हाये।
ऋषि मुनि दीन्हें कन्द, मूल, फल तेई खाये॥
रहें तहाँ ध्रुव करें साध्यहित नित प्रति साधन।
प्रेम भावमहँ मग्न निरन्तर हरि आराधन॥
परम प्रेमकी सब दशा, स्वतः प्राप्त तिनकूँ भई।
द्रवित हृदय सागर बन्यो, आँखें वर्षा बनि गई॥

ध्रुवजी की ध्रुवलोक प्राप्ति

[२४७]

स ददर्श विमानाग्र्यं नभसोऽवतरद् ध्रुवः ।
विभ्राजयद्दशदिशो राकापतिमिवोदितम् ॥
परीत्याभ्यर्च्य धिष्ण्याग्र्यं पार्षदावभिवन्द्य च ।
इयेष तदधिष्ठातुं बिभ्रद्रूपं हिरण्मयम् ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १२ अ० १८, २८ श्लोक)

छप्पय

इक दिन लख्यो विमान उतरतो नभतें आवत ।
चकाचौंध-सी करत छटा चहुँ दिशि छिटकावत ॥
अरुण कमलदल नेत्र निहारे पार्षद हरिके ।
करि प्रणाम ध्रुव उठे तुरत आये ढिग उनिके ॥
ध्रुव ! जीत्यो हरिपद तुमनि, बोले नन्द सुनन्द तब ।
भेज्यो दिव्य विमान हरि, चढ़ें करें नहिँ देर अब ॥

जो भगवान् की शरण हो गया है, सब कार्य जो उन्हीं की

---

* महामुनि मैत्रेय कहते हैं—"विदुरजी ! एक दिन ध्रुवजी ने चन्द्रमा के समान दशों दिशाओं को आलोकित करता हुआ, एक श्रेष्ठ विमान आकाश से उतरता हुआ देखा (विष्णु पार्षदों के कहने पर) ध्रुवजी ने उस विमान श्रेष्ठ की वन्दना तथा प्रदक्षिणा करके भगवान् के नन्द सुनन्द दोनों पार्षदों को प्रणाम किया और हिरण्मय स्वरूप धारण करके उस पर चढ़ने को उद्यत हुए ।"

प्रीति के निमित्त करता है, सदा उन्हीं का चिन्तन करता रहता है, ऐसे अनन्य भक्त की भगवान् को भी स्वयं बड़ी चिन्ता होती है। वैसे पापात्मा पुण्यात्मा पुरुष को धर्मराज यम के दूत लेने आते हैं। पुण्यात्मा को सौम्य भाव से सौम्य रूप से ले जाते हैं, पापात्मा को विकट रूप से गर्जन तर्जन करते हुए, डराते धमकाते दुःख देते हुए ले जाते हैं। जो भगवान् के भक्त हैं, उन्हें वैकुण्ठ के विष्णु पार्षद ले जाते हैं, किन्तु जो अनन्य हैं, उनको लेने के लिये या तो भगवान् स्वयं आते हैं या अपने प्रधान पार्षद नन्द सुनन्द को भेजते हैं। वे भगवान् के प्रतिनिधि बनकर ही आते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! विशालापुरी में ध्रुवजी बड़े आनन्द के साथ भगवत् ध्यान में निमग्न रहते थे। एक दिन उन्होंने ज्यों ही आँख खोलकर आकाश मण्डल की ओर देखा त्यों ही सहस्र सूर्य चन्द्रमा के समान एक बड़ा ही देदीप्यमान प्रकाश उन्हें अपनी ओर आता हुआ दिखाई दिया। उसके अपूर्व आलोक से दशों दिशायें आलोकित हो रही थीं। ध्रुवजी ने देखा यह तो दिव्य विमान है। दूर से पहिले उन्हें कोई प्रकाशमान ग्रह-सा दिखाई दिया, ज्यों-ज्यों वह समीप उतरता आता था त्यों-त्यों उसकी वस्तुएँ स्पष्ट दिखाई देती जाती थीं। अब ध्रुवजी को उसमें दो दिव्य पुरुष दिखाई दिये। कुछ और उतर आने पर प्रतीत हुआ वे दोनों चतुर्भुज हैं। गदा का सहारा लिये हुए खड़े हैं। उनका सुन्दर सुहावना सुगन्धियुक्त श्याम शरीर है। चारों भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए हैं। वे किशोरावस्थापन्न हैं। कमल के समान खिले हुए उनके बड़े-बड़े रसीले नेत्र हैं। उनके वस्त्राभूषणों की चमक-दमक से सम्पूर्ण विमान आलोकमय बना हुआ है। उनके मस्तक पर मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में हार, बाहुओं में अङ्गद और बाजूबन्द शोभित हो रहे हैं। उनके दिव्य आभूषणों के चाकचिक्य से उनकी ओर

देखना असह्य हो गया है। ध्रुवजी समझ गये ये भगवान् वैकुण्ठ-नाथ के प्रधान पार्षद हैं, अतः वे सम्भ्रम के साथ उनका स्वागत करने के लिये जैसे बैठे थे वैसे ही उठ खड़े हुए। वे प्रेम में ऐसे विह्वल हो गये कि उनकी पूजा में पहिले पाद्य दिया जाय या अर्घ्य, उन्हें इसका भी ध्यान नहीं रहा। बस, ये भगवान् के हैं, उनके प्रधान पार्षद हैं, अतः बार-बार 'जय-जय श्रीकृष्ण' कह-कहकर उन्हें गद्गद कण्ठ से सिर झुकाकर बार-बार प्रणाम करने लगे।

नन्द सुनन्द दोनों पार्षदों ने देखा—"ध्रुवजी का चित्त श्याम-सुन्दर के चरणारविन्दों में ही लगा हुआ है, उन्हीं के जगन्मङ्गल मनोहर नामों का वे निरन्तर उच्चारण कर रहे थे। अत्यन्त विनीत भावों के कारण जो हाथ जोड़े सिर झुकाये दीन भाव से पार्षदों के सम्मुख खड़े हैं। उनकी ऐसी नम्रता को देखकर भग-वान् के पार्षद अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और बड़ी ही मधुर वाणी से ध्रुवजी की प्रशंसा करते हुए उनसे कहने लगे—"राजन्! हम निखिल जगत्नियन्ता भगवान् शार्ङ्गपाणि श्रीहरि के दूत हैं।"

ध्रुवजी ने अत्यन्त विनीत भाव से कहा—"हे देव प्रवरो! आपके वेष-भूषा और तेज प्रभाव से ही मैं समझ गया था कि आप भगनान् के परम अन्तरङ्ग पार्षद हैं। आपने मेरे ऊपर किस कारण कृपा की, इसे यदि आप उचित समझें तो मुझसे कहें।"

यह सुनकर मुस्कुराते हुए विष्णु-पार्षदों ने कहा—"महाभाग! हमें भगवान् ने इस विमान के सहित इसलिये भेजा है कि हम आपको अत्यन्त सत्कार के सहित विष्णुपद ले आवें।"

ध्रुव ने आश्चर्य की मुद्रा प्रकट करते हुए कहा—"मेरे ऐसे भाग्य कहाँ जो भगवान् ने मुझे इतना मान दिया है, मुझे इस प्रकार स्मरण किया है?"

पार्षदों ने कहा—"महाराज! ऐसी विनम्रता यह आपके

अनुरूप ही है। आपने तो ५ वर्ष की अल्पावस्था में अच्युत को प्रसन्न कर लिया था। जिस विष्णुपद को कोई भी नहीं जीत सकता उसे आपने ५ वर्ष की अवस्था होने पर केवल ६ महीने के तप से ही जीत लिया। राजन्! वह विष्णुपद साधारण स्थान नहीं है। तीनों लोकों को प्रकाश प्रदान करने वाले सूर्य चन्द्रमा भी जिनका आश्रय लेकर घूमते हैं। जितने ग्रह, नक्षत्र और तारागण हैं, वे भी सदा उसी की प्रदक्षिणा करते रहते हैं उस परम पद के आप अधीश्वर हो जायेंगे। आज से वह आपके नाम से विख्यात होगा। उसे अब सब लोग ध्रुवलोक या ध्रुवपद कहा करेंगे। उस तीनों लोकों से वन्दित पूजित और सत्कृत लोक को तुम्हारे पिता पितामह भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं, उसी पद का आज से आप अधिकार ग्रहण करें। इसीलिये स्वयं भगवान् ने इस विमान को आपके लिये भेजा है और हमें आज्ञा दी है कि हम आपको बड़े सत्कार के सहित ले आवें। हे आयुष्मन्! अब आप विलम्ब न करें, चटपट इस पर चढ़ जायँ और खटपट हम चल दें और झटपट उस पद पर पहुँच जायँ।"

इतना सुनते ही ध्रुवजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। अब उन्हें महाप्रस्थान करना है इस पृथ्वी मण्डल को सदा के लिये छोड़ना है, भगवान् के परम दिव्य विमान पर चढ़ना है, अतः उन्होंने शीघ्रता के साथ विष्णुपदी भगवती अलकनन्दा में स्नान किया। फिर अपने नित्य कर्मों से निवृत्त होकर बदरी वनवासी ऋषि-मुनियों के चरणों में जाकर प्रणाम किया और उनसे इस लोक को त्यागने की आज्ञा माँगी। ध्रुवजी की ऐसी बात सुनकर ऋषियों को हर्ष भी हुआ और ध्रुवजी से वियोग हो रहा है इसलिये दुःख भी हुआ। उन्होंने ध्रुवजी को प्रसन्न मन होकर अनेकों आशीर्वाद दिये। सब ऋषि मुनि ध्रुवजी के महाप्रस्थान को देखने के लिये बड़े कौतूहल के सहित विमान को चारों ओर से घेरकर खड़े

हो गये। दिव्य विमान भूमि का स्पर्श नहीं करता। अतः वह अधर ही आकाश में खड़ा था। दोनों ओर नन्द और सुनन्द अपनी-अपनी गदा के सहारे से खड़े थे। ध्रुवजी अब उस पर चढ़ने को उद्यत हुए।"

यह सुनकर विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! सभी लोग परलोक प्रयाण करते समय इस पाञ्चभौतिक शरीर को त्यागकर दिव्य सूक्ष्म शरीर से जाते हैं तो क्या ध्रुवजी ने भी अपना मानुषीय शरीर त्याग दिया था?"

इस पर हँसते हुए मैत्रेय मुनि कहने लगे—"विदुरजी! जिन्होंने भगवान् को अपने हृदय में धारण कर लिया है उनका तो यह शरीर चिन्मय बन जाता है। उसे छोड़े, न छोड़े, उनकी इच्छा के ऊपर निर्भर है। ध्रुवजी ने तो काल को भी जीत लिया उसके भी सिर पर पैर देकर वे इसी शरीर से ध्रुवलोक को गये।"

विदुरजी ने पूछा—"महाराज! काल के सिर पर पैर कैसे दिया?"

मैत्रेय मुनि ने कहा—"विदुरजी! जब काल ने देखा ध्रुवजी के इस लोक के भोग समाप्त हो गये हैं, वे परलोक प्रस्थान करने का उपक्रम कर रहे हैं, तब तो काल शरीर रखकर मूर्तिमान होकर काँपता हुआ ध्रुवजी के समीप आया। उसे सिटपिटाये हुए खड़े देखकर ध्रुवजी ने पूछा—"कहो भाई! कुछ कहना चाहते हो? क्या बात है?"

डरते-डरते उसने कहा—"प्रभो! आप भगवद्भक्त हैं, सुना भगवान् के भक्त मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। वे सबका सम्मान करते हुए लोक मर्यादा को बनाये रखते हैं।"

ध्रुवजी ने हँसकर कहा—"भैया! सीधी तरह अपना अभिप्राय कहो। द्राविड़ी प्राणायाम क्यों कर रहे हो? तुम चाहते क्या हो?"

काल ने कहा—"महाराज ! मैं सबका अन्त करने वाला काल हूँ। मेरा नाम मृत्यु है। पृथ्वी के जो भी प्राणी परलोक जाते हैं, मुझे ग्रहण किये बिना कोई नहीं जाता। इसीलिये इस लोक का नाम मृत्युलोक है। आपसे तो मैं कैसे कहूँ, मेरा साहस नहीं होता कि आप इस शरीर का त्याग करें, किन्तु लोक मर्यादा की रक्षा तो आपको करनी ही चाहिये। मेरा उपयोग आप करें, मुझे व्यर्थ न बनावें।"

यह सुनकर ध्रुवजी मुस्कराये और बोले—"अच्छी बात है भैया ! तुम भी अच्छे अवसर पर आ गये। तुम्हारा भी मुझे सत्कार करना ही है। यहाँ विमान के पास बैठ जाओ, मैं अभी आता हूँ।"

मृत्यु बड़ा प्रसन्न हुआ कि भगवत्भक्त ने मेरा अपमान नहीं किया, वह इस आशा से बैठ गया कि ज्यों ही ये विमान पर आरूढ़ होंगे, मैं इनके शरीर में प्रवेश कर जाऊँगा, इनका यह पाञ्चभौतिक शरीर मेरे अधीन होकर यहाँ निर्जीव पड़ा रह जायगा, ये दिव्य रूप से विमान पर चढ़कर चले जायँगे। इसी आशा से वह बैठा रहा।

इतने में ही ध्रुवजी सब ऋषि-मुनियों को प्रणाम करके शीघ्रता से आये। विमान तो ऊँचा था। इसलिये झट से मृत्यु के सिर पर पैर रखकर फट से विमान पर चढ़ गये और चट से सर्र-सर्र करके उड़ गये। मृत्यु अपना-सा मुँह बनाये देखता-का-देखता ही रह गया कि ध्रुवजी ने अच्छा मुझे सीढ़ी बना लिया।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! भगवान् के भक्तों की ही ऐसी सामर्थ्य है कि वे मृत्यु के सिर पर पैर रखकर चले जाते हैं, उसकी कुछ भी चिन्ता नहीं करते।"

इधर सुवर्ण के समान जाज्वल्यमान शरीर से विमान पर चढ़कर जब ध्रुवजी चलने लगे तब स्वर्गीय देवताओं ने उनके ऊपर

नन्दकानन के दिव्य पुष्पों की वृष्टि की। आकाश में देवताओं द्वारा दुन्दुभी, मृदङ्ग, पणव आदि वाद्य बजाये गये। अप्सरायें नृत्य करने लगीं, गन्धर्व गाने लगे, सभी मिलकर ध्रुवजी का जयजयकार करने लगे।

जब ध्रुवजी विमान से स्वर्ग जा रहे थे तो उन्हें अपनी माता का स्मरण हो आया और सोचने लगे"—जिस माता के सदुपदेश से मैंने भगवत् आराधना करके श्रीहरि का साक्षात्कार किया तथा दुर्लभ विष्णु पद प्राप्त किया, उस माता को मर्त्यलोक में ही त्यागकर अकेले स्वर्ग जाना मेरा अनुचित है।" भगवान् के पार्षद तो सर्वज्ञ होते हैं, वे ध्रुवजी के मनोभाव को समझ गये और हँसते हुए बोले—"महाभाग! आप चिन्ता न करें। जिसने आप जैसे नररत्न को उत्पन्न किया है वह मर्त्यलोक में कैसे रह सकती है। यह देखिये ऊपर आपकी माता आपसे भी पहिले उसी लोक को दिव्य विमान से जा रही है।" इतना कहकर ऊपर जाते हुए सुनीति देवी के विमान को पार्षदों ने दिखाया। उसे देखकर ध्रुव जी को अत्यधिक प्रसन्नता हुई।

अब तो ध्रुवजी का विमान अत्यन्त वेग से ऊपर उड़ रहा था। वह सूर्य आदि ग्रहों को भी नीचे छोड़ता हुआ ऊपर जा रहा था, मार्ग में उपदेव, देव, ऋषि-मुनि ध्रुवजी की जयजयकार करते, जिस लोक में होकर भी वे जाते वहीं उनका धूमधाम से स्वागत होता, मालायें पहिनाई जातीं और स्वर्गीय दिव्य पुष्पों की उनके ऊपर वृष्टि होती।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार ध्रुवजी सबके द्वारा सर्वत्र सत्कृत हुए, त्रिलोकी को पार कर गये। फिर सप्त-ऋषियों के मण्डल से भी ऊपर श्रीहरि के परमधाम विष्णुपद में जाकर वहाँ के अधीश्वर बनकर सुखपूर्वक रहने लगे।"

छप्पय

आज्ञा सबतें लई चढ़ँ ध्रुव जिही बिचारें ।
आयो तबई काल प्रभो ! मोकूँ स्वीकारें ॥
बोले ध्रुव—तू बैठि मान राखूँ तेरोऊ ।
भक्त करें सत्कार चाहिँ आवे ढिँग कोऊ ॥
मृत्यु शीश पद दै चढ़े, हरि विमान चटि चलि दयो ।
अपनों सो मोंहड़ो करयो, मृत्यु खिस्यानो रहि गयो ॥

ध्रुवजी का महत् माहात्म्य

[२४८]

नूनं सुनीतेः पतिदेवताया-
स्तपः प्रभावस्य सुतस्य तां गतिम् ।
दृष्ट्वाभ्युपायानपि वेदवादिनो-
नैवाधिगन्तुं प्रभवन्ति किं नृपाः ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १२ अ० ४१ श्लोक)

छप्पय

ध्रुव जीत्यो हरि धाम जाइ नहिँ पापी पावें ।
समदरशी शुभ शान्त शुद्ध जन ई जहँ जावें ॥
देवहु जिनके परम पुण्यको पार न पावें ।
गुरु हू गुरुता त्यागि शिष्य गुन गौरव गावें ॥
धन्य धन्य ध्रुव धन्य तव, जननी मातु सुनीति है ।
धन्य हृदय तुव तासुमहँ, प्रभुपद पङ्कज प्रीति है ॥

जिन पर प्रभु प्रसन्न हो गये, उन्हें फिर संसार में प्राप्य पदार्थ

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! ध्रुवजी के प्रभाव का गान करते हुए उनके गुरु नारदजी ने कहा है कि निश्चय ही सुनीति देवी अपने पति को देवता मानने वाली थीं । जिनके पुत्र ध्रुवजी को उनकी तपस्या के फल से वह गति प्राप्त हुई जिसे भागवत धर्मों को जानने वाले वेदवादी मुनि भी प्राप्त नहीं कर सकते, फिर इन नरपति राजाओं की तो बात ही क्या है ?"

कौन-सा रह गया। जिन्होंने प्रभुप्रेम को प्राप्त नहीं किया उन्होंने प्राप्त ही क्या किया। वे पुरुष धन्य हैं, उन्हीं की माता यथार्थ में माता कहलाने योग्य है, उन्हीं का जग में जीवन सफल है, उन्हीं के पुरुषार्थ को पुरुषार्थ कहा जा सकता है जिन्होंने अपने भक्ति-भाव से भगवान् को प्रसन्न कर लिया है, उनका कृपा प्रसाद प्राप्त कर लिया है वे ही वन्दनीय, पूजनीय और प्रातः स्मरणीय हैं, उनकी पवित्रता से ही यह जग अपावन होने पर भी पावन बना हुआ है, उनके विमल चरित्रों से ही दुःखमय संसार सुखमय बन गया है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! ध्रुवजी के भाग्य की जितनी सराहना कीजिये, उतनी ही कम है, क्योंकि उन्होंने उस अक्षय विष्णु पद को प्राप्त किया जिसे वेदवादी मुनि भी अत्यन्त कठिनता के साथ अनेक जन्मों में प्राप्त कर सकते हैं, फिर पुण्यहीन तपस्या और सत्कर्मों से रहित साधारण लोगों की तो बात ही क्या, वे शरीर से कौन कहे मन से भी उस लोक की कल्पना नहीं कर सकते। उस ध्रुवलोक को प्रकाश के लिये सूर्य चन्द्रादि ग्रहों की अपेक्षा नहीं वह स्वयं ही अपने प्रकाश से प्रकाशित है। यही नहीं उसी के प्रकाश से त्रिलोकी में प्रकाश फैला हुआ है। सूर्य चन्द्र उन्हीं का आश्रय लेकर चक्कर काटते रहते हैं। उसमें कृष्णार्पण बुद्धि से निरन्तर शुभ कर्म करने वाले पुरुष ही जा सकते हैं जो अन्य हिंसक, निर्दय, अशुचि, पापी प्राणियों के लिये दुर्विज्ञेय है, जिसमें समदर्शी, शान्त, शुद्ध, सरल अन्तःकरण वाले, सर्वोपकारी, सभी के हित में निरत रहने वाले ही रहते हैं, उस ध्रुवलोक की जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही न्यून है। उस लोक को सुनीतिनन्दन महाराज उत्तानपाद के यशस्वी भगवत्-परायण परम भागवत पुत्र ध्रुव ने ही प्रभु की प्रसन्नता से प्राप्त किया। वह लोक तीनों लोकों का मुकुटमणि है, निर्मल

चूड़ामणि स्वरूप है। अन्न मींजते समय जौ गेहूँ की लाई में जब बैलों की दाँय चलाते हैं तो बीच में एक खूँटा गाड़ देते हैं। उसी के आस-पास बैल घूमते रहते हैं। इसी प्रकार ध्रुवजी समग्र ग्रह, नक्षत्र तथा तारागण के मेढ़ी भूत हैं। उनके सहारे ही ये सब घूमा करते हैं। यह सम्पूर्ण ज्योतिश्चक्र ध्रुव के ही सहारे स्थित है। ध्रुवजी आज भी आकाश में अपनी माँ सुनीति के सहित सबके उत्तर दिशा में दिखाई देते हैं। ध्रुव तारे के समीप ही उनकी माता सुनीति का भी तारा स्पष्ट दिखाई देता हे, वे निरन्तर अपनी भगवद् भक्ति के प्रकाश से प्रकाशित होते रहते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! हम पीछे ही बता आये हैं कि जो कोई परम महत्व का कार्य करता है, उसकी पूजनीय और सम्माननीय गुरुजन भी सम्मान करते हैं, उन्हें बड़ाई देते हैं। देखिये भक्त भगवान् के दर्शनों को जाता है, किन्तु भगवान् स्वयं मधुवन में ध्रुवजी के दर्शनों के निमित्त आये। पुत्र पिता को आगे से लेने जाता है, किन्तु महाराज उत्तानपाद स्वयं अपने सुत को स्नेहवश आगे से लेने गये। शिष्य गुरु के गौरव और गुणों का गान करता है, किन्तु प्रचेताओं के सत्र में गुरुओं के भी गुरु स्वयं भगवान् नारद ने अपने शिष्य ध्रुव के गुणों का गान किया था। हरि गाथा के साथ-ही-साथ हरिदास ध्रुव के भी महत्व का बखान किया था।

इसे सुनकर विदुरजी बोले—"भगवन् ! देवर्षि नारद ने प्रचेताओं के यज्ञ में किस प्रकार ध्रुव के गुणों का गान किया था, इस बात को विस्तार के सहित बताइये। इसे सुनने की मेरी बड़ी इच्छा है। ध्रुव के चरित को सुनते-सुनते मेरी तृप्ति ही नहीं होती।"

यह सुनकर भगवान् मैत्रेय बोले—"विदुरजी ! प्रचेताओं ने अपनी राजधानी ब्रह्मावर्त में गङ्गा तट पर एक बड़ा भारी सत्र

किया था। उसमें हरि गुण गान करने को स्वर्ग से गन्धर्व आये थे। उसी समय में भगवान् नारदजी ने भगवान् को महिमा गाते-गाते प्रसङ्गवश अपनी वीणा को बजाते हुए ध्रुव के सम्बन्ध में यह गायन किया था। जिसे सुनकर सभी सभासद चकित तथा विस्मित हो गये थे। नारदजी ने अलाप भरकर यह गायन किया था—

(१)

सुनीती धन्य जगत के माहीं।
जिनके लाल भक्त चूड़ामणि कोऊ जिन सम नाहीं॥
क्रोधित सुत समझायो सब विधि सच्ची सीख सिखाई।
शिक्षा पाइ गये ध्रुव वनकूँ, अति मनमहँ हरषाई॥
जप व्रत साधे प्रभु आराधे, बन की मेवा खाई।
हरि पद पायो रोष गँवायो, लखि ध्रुव सुरुचि सिहाई॥

(२)

धन्य ध्रुव भक्तनि के सिरमौर।
सौतेली माँ बागवाण ने बेध्यो हियो कुठौर॥
क्रोधित ह्वै वनकूँ चलि दीन्हें छोड़ी पितु की पौर।
बालक ह्वै हरि हिय में धारे, तजी आश जग और॥
मधुवन गये मानि मेरी सिख, हरिजू आये दौर।
दुर्लभ पद पायो जिहि जगमहँ पाइ सके नहिं और॥

नारदजी अपने शिष्य का गान करते हुए कहने लगे—"देखो जगत की समस्त ललनाओं में परम पति परायणा श्री सुनीति देवी ही हैं, जिनकी कोख से ध्रुवजी जैसे परम भगवद्भक्त नर-रत्न उत्पन्न हुए। ध्रुवजी ने अपनी अल्प कालीन तपस्या के प्रभाव से जो उत्तमोत्तम गति प्राप्त की उसे बड़े-बड़े सदाचारी, व्रतधारी, ब्रह्मचारी, वेदपाठी भी पाने में असमर्थ हैं, फिर निरन्तर विषय

भोगों में ही फँसे रहने वाले राजाओं की तो बात ही क्या। ध्रुव जी की अवस्था ५ ही वर्ष की थी, इस छोटी-सी ही अवस्था में सौतेली माता के वाग्वाणों से विद्ध होकर माधव को प्रसन्न करने मधुवन चले गये। मेरे उपदेश के अनुसार उत्तम उपासना की, जिसके द्वारा भक्तों के गुणगान से ही जीते जाने वाले उन अजेय अच्युत को अपने अधीन कर लिया। आश्चर्य की बात तो यह है कि केवल ५ वर्ष की ही अवस्था में और बहुत तपस्या भी न करके केवल ६ महीने में भगवान् को प्रसन्न कर लिया और प्रसन्न करके वह पद पाया जिसे अन्य क्षत्रिय असंख्यों वर्ष तपस्या करने पर भी सम्भव है प्राप्त न कर सकें।" इस प्रकार ध्रुव का यशोगान करके नारदजी प्रचेताओं के सत्र से स्वेच्छापूर्वक चले गये।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! आपने मुझसे महाभागवत, साधु पुरुषों के अग्रणी परम यशस्वी ध्रुवजी का चरित्र पूछा था, उसे मैंने अत्यन्त संक्षेप में आपके सम्मुख सुना दिया। अब आप और क्या पूछना चाहते हैं?"

विदुरजी ने कहा—"महाराज! इस ध्रुव चरित्र श्रवण का माहात्म्य और सुना दीजिये, जिससे श्रोताओं की इसके श्रवण में रुचि हो, गान करने में प्रीति हो और माहात्म्य सुनकर हृदय में उत्साह हो।"

इस पर शौनकजी बोले—"महाभाग विदुरजी! भक्तों के चरित्र के माहात्म्य का वर्णन करने की शेष शारदा की भी शक्ति नहीं, फिर मैं तो एक साधारण पुरुष हूँ। ध्रुवजी का चरित्र धन-धान्य, पुत्र, पौत्र यश कीर्ति को देने वाला तथा आयु को बढ़ाने वाला है। यह परम प्रशंसनीय पापनाशक और पावन है, सुनने से स्वर्ग तथा ध्रुवलोक की प्राप्ति कराता है, प्रभु पादपद्मों में प्रीति बढ़ाता है, यह चरित्र विद्यार्थियों के विद्या की, धनार्थियो के धन

की, पुत्रार्थियों के पुत्रों की, मनस्वियों के मान की, तपस्वियों के तप की, यशस्वियों के यश की वृद्धि करने वाला है। इसके श्रवण मात्र से सभी सिद्धियाँ मिलती हैं।"

विदुरजी ने पूछा—"महाराज ! इसे कब सुने ?"

मैत्रेय मुनि बोले—"इसके सुनने का कोई नियम नहीं। जब भी अवसर हो तभी सुने, प्रातःकाल सुने, सायंकाल सुने, रात्रि में सुने, दिन में सुने। ब्राह्मण और द्विजातियों के समूह में सुने, सुनावे, गावे गवाये। दृष्टान्त दे उनके गुणों का कीर्तन करे।"

विदुरजी बोले—"महाराज ! रोज सुनाने का अवसर न मिले तो ?"

मैत्रेय मुनि बोले—"तो क्या ? जब भी समय मिले तभी सुने। पूर्णिमा, अमावस्या, एकादशी, द्वादशी, श्रवण, नक्षत्र, क्षयतिथि, व्यतीपात योग, संक्रान्ति आदि को सुने।"

विदुजी ने पूछा—"महाराज ! पूर्णिमा, अमावस्या को अवकाश न मिले, किसी कार्यालय में काम करने जाना पड़ता है तो किस दिन सुने ?"

मैत्रेय मुनि बोले—"तब अवकाश के दिन रविवार को सुने। रविवार सातों दिन में श्रेष्ठ है। सुनने की अपेक्षा जो लोगों को इकट्ठा करके निष्काम भाव से सुनाता है, उस पर तो भगवान् इतने प्रसन्न होते हैं कि उसे अपना आपा दे देते हैं, उसके अनुचर बन जाते हैं। उसके सभी मनोरथ स्वतः सिद्ध हो जाते हैं।"

मैत्रेय मुनि अत्यन्त हर्ष के साथ कहने लगे—"विदुरजी ! तुम भी बड़े भक्त हो, इसीलिये मैंने तुम्हें इस छोटे से मुनमुना से बालक भक्त ध्रुव का चरित्र सुना दिया। भगवान् तुम्हारा कल्याण करें, मङ्गल करें, तुम्हारे कारण मेरी भी वाणी पवित्र हो गई। लिखने वाले की लेखनी धन्य होगी और सुनने वालों के कान पवित्र होंगे बोलिये, और आप क्या सुनना चाहते हैं।"

छप्पय

अति पवित्र यह चरित जाहि जे निशिदिन गावें ।
ते निश्चय ई पुरुष प्रेम प्रभुपदको पावें ॥
जे श्रद्धातें पढ़ें सुनें पढ़ि सबनि सुनावें ।
पाइ परम पद पुण्य जगतमहँ नहिं फिरि आवें ॥
बाल सुलभ क्रीड़ा तजी, तप करि अक्षय पद लह्यो ।
उन ध्रुवजी को विदुर ! यह, विमल चरित तुमतें कह्यो ॥

ध्रुवजी के वंश का वर्णन

[२४९]

के ते प्रचेतसो नाम कस्यापत्यानि सुव्रत ।
कस्यान्ववाय प्रख्याताः कुत्र वा सत्रमासत ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १३ अ० २ श्लोक)

छप्पय

अति आनन्दित भयो विदुर वर बोले बानी ।
भगवन् ! ध्रुवकी कही, कलित कमनीय कहानी ॥
कहो, प्रचेता कवन कहाँ शुभ सत्र रचायो ।
कैसे नारद जाइ वहाँ ध्रुवको गुन गायो ॥
सुनि अति पावन प्रश्नकूँ, हँसि बोले मैत्रेय मुनि ।
भये प्रचेता वंश ध्रुव ताको बरनन विदुर ! सुनि ॥

जिस कुल में एक भगवद्भक्त हो जाता है, वह कुल-का-कुल परम पावन बन जाता है। जिस देश में परम भागवत उत्पन्न हो जाता है, वह देश पवित्र तीर्थ हो जाता। भक्त को उत्पन्न करने वाली माता धन्य है, वह कुल धन्य है, वह वसुन्धरा प्रशंसनीय है

---

* विदुरजी मैत्रेय मुनि से पूछते हैं—"भगवन् ! पीछे आपने कहा था प्रचेताओं के यज्ञ में नारदजी ने ध्रुव के यश का गान किया था। तो वे प्रचेता कौन थे, किनके पुत्र थे ? किस वंश में उत्पन्न हुए थे ? उन्होंने कहाँ यज्ञ किया था ? इन सब बातों को कृपा करके आप वर्णन करें।"

और वे पुरुष धन्य हैं जो भक्तों के कुल में उत्पन्न होते हैं। श्रेष्ठत्व के कई कारण हैं। बहुत से विद्या से श्रेष्ठ होते हैं, बहुत से तप से, बहुत से शुभ कर्मों से, बहुत से ऐश्वर्य से, बहुत से धनजन आदि विभव से। किन्तु इन सबसे उत्तम श्रेष्ठत्व उत्तम कुल का जन्म माना जाता है। धन आज है, कल नष्ट हो गया। ऐश्वर्य की भी यही दशा है, तप और शुभ कर्म भी बुरे कार्य करने से नष्ट हो जाते हैं। यह भी अपयश के रूप में परिणत हो जाता है, किन्तु जिस कुल में जन्म लिया है, उसका गौरव तो शरीर के अन्त होने तक बना रहता है। स्वयं बुरे कर्म करने पर भी लोग कुल को नहीं भूलते इसलिये पूर्वयुगों में कुलीनता का बड़ा आदर किया जाता था। अकुलीन गुणी भी हो तो लोग उसका उतना आदर नहीं करते थे जितना कुलीन गुणहीन का, क्योंकि बाह्य गुण न रहने पर भी उसका जो कुलागतशील है, वह तो नष्ट नहीं होता। कलिकाल में तो कुलीनता रहती ही नहीं। लोग यश, ऐश्वर्य और धन के ही कारण श्रेष्ठ माने और जाने जाते हैं।

ध्रुवजी के अत्यन्त पवित्र चरित्र को सुनकर नैमिषारण्य निवासी मुनिगण अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। वे सब सूतजी की प्रशंसा करते हुए बोले—"महाभाग। सूतजी! आपकी वाणी ही बड़ी मधुर है। कथा कहने की प्रक्रिया आपने अपने पिता से भली-भाँति सीख ली है। आप कथा में ऐसे सरसता के सम्पुट लगाते जाते हैं कि चित्त ऊबता ही नहीं। अधिकाधिक उत्सुकता बढ़ती ही जाती है। महाभाग विदुरजी ने पुण्यश्लोक महामहिम श्री ध्रुवजी के चरित्र के अनन्तर मैत्रेय मुनि से कौन-सा प्रश्न किया, कृपा करके आप हमें उस आगे के प्रसङ्ग को सुनाइये। उन दोनों परम भागवतों में जो सम्वाद हुआ होगा, वह अत्यन्त ही परम पावन पापनाशक और भक्तिवर्धक होगा। कृपा करके आप यहीं कथा का विराम न कर दें आगे इस प्रसङ्ग को चालू ही रखें।"

इतना सुनते ही सूतजी बोले—"मुनियो ! मैं तो आप लोगों को पाकर कृतार्थ हो गया। भगवत् कथा के प्रति इतनी तन्मयता इतनी उत्सुकता तो हमने आज तक किसी में देखी नहीं। हे पवित्र कीर्ति वाले मुनियो ! मैं आपको आगे की कथा सुनाता हूँ, आप सब समाहित चित्त होकर श्रवण करें। महाभागो ! जब महामुनि मैत्रेय के मुख से महामहिम्न ध्रुवजी का चरित्र विदुरजी ने सुना तो उनके रोम-रोम खड़े हो गये। तथा उनके हृदय में भगवान् वासुदेव की भक्ति का उद्रेक हो आया। ऐसी प्रेम ही की नशा में प्रसङ्गान्तर न होने पावे और कथा ज्यों-की-त्यों चालू रहे, यही सोच विचारकर उन्होंने मैत्रेय मुनि से पूछा—"ब्रह्मन् ! आपने कहा था कि प्रचेताओं के यज्ञ में नारदजी ने ध्रुवजी के गुणों का गान किया था तो कृपा करके यह बताइये कि ये प्रचेता कौन थे ? इनका जन्म किस वंश में हुआ था और इन्होंने कहाँ पर यज्ञ किया था ?"

इतना सुनते ही मैत्रेय मुनि हँस पड़े और बोले—"विदुरजी ! आप क्या कथा के बड़े रसिक हैं। कैसा प्रश्न कर दिया। इस प्रश्न में तो अनेक कथाओं का समावेश हो जाता है। ये प्रचेतागण ध्रुवजी के ही वंश में हुए थे।"

इतना सुनते ही विदुरजी बोले—"भगवन् ! मुझसे महा-भागवत् श्रीध्रुवजी के वंश का वर्णन करें। उनके वंश में जो-जो भी राजर्षि श्रेष्ठ पुरुष हुए हों, उनके उदार चरित्रों का आप बखान करें। ध्रुव के वंश में जो हुए होंगे, वे साधारण लोग न होंगे। वे तो भगवान् के अंशावतार कलावतार ही होंगे। ऐसे पवित्र-चरित्र पुरुषों का यश श्रवण-से श्रवण पवित्र होते हैं।"

विदुरजी के प्रश्न को सुनकर मैत्रेयजी ध्रुव की कथा के ही प्रसङ्ग को चालू रखते हुए कहने लगे। महाभागवत विदुरजी ! यह तो मैं पहिले ही आपको बता चुका हूँ कि मनु पुत्र महाराज

उत्तानपाद के ध्रुव और उत्तम नामक दो सुत हुए, उत्तम तो बिना विवाह किये ही यक्षों के हाथ से मारे गये। इसलिये उनका वंश तो चला नहीं। ध्रुवजी का वंश आगे चला। उसी वंश का वर्णन प्रचेताओं के यज्ञ में श्री नारदजी ने किया था।

इस पर विदुरजी बोले—"महाराज! जिस वंश का वर्णन देवर्षि भगवान् नारद ने किया हो, वह वंश अवश्य ही श्लाघनीय होगा। क्योंकि नारदजी कोई साधारण ऋषि तो हैं नहीं। वे तो भगवान् के अंशावतार ही हैं, वे निरन्तर वीणा बजाते हुए विश्व के निमित्त चौदह लोकों में घूमा करते हैं। उनसे बढ़कर संसार में भागवत कौन होगा, जिन्होंने पाञ्चरात्र आदि शास्त्रों का निर्माण किया है, उनमें भगवान् की पूजा पद्धति–क्रिया योग का–निरूपण किया गया है। प्रचेताओं के बड़े भाग्य थे जो नारदजी ने आकर उनके यज्ञ में उनके वंश का वर्णन किया, ध्रुवजी के गुणों का गान किया। नारदजी ने ध्रुव के वंश वर्णन के प्रसङ्ग में जिन गुप्त भगवच्चरितों का वर्णन किया हो, उन सबको आप मुझे विस्तार के साथ सुनावें। आपके मुख से कथा सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है।"

विदुरजी के इस चातुरी के साथ किये हुए प्रश्न को सुनकर मैत्रेय मुनि कहने लगे—"व्यासनन्दन विदुरजी! यह तो मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि ध्रुवजी की इला और भ्रमि नाम की दो रानियाँ थीं। इला के गर्भ से उत्कल नामक पुत्र हुआ और भ्रमि के गर्भ से वत्सर नामक दो पुत्र हुए। नियमानुसार राज्य सिंहासन पर उत्कल का ही अधिकार था। इसलिये ध्रुवजी उन्हें ही राज्य-सिंहासन देकर बन को चले गये। पिता के सम्मुख तो उत्कलजी ने कुछ आपत्ति की नहीं, क्योंकि पिता साक्षात् तीर्थस्वरूप देवता हैं, उनकी आज्ञा माननी ही चाहिये। किन्तु उनके जाने के पश्चात्

उनकी राज्य करने की इच्छा नहीं हुई, अतः वे ऐसे अण्डबण्ड कार्य करने लगे कि सब प्रजा उनसे घृणा करने लगी।

इस पर विदुरजी ने पूछा—"महाराज ! परम भागवत ध्रुवजी के साक्षात् और सुपुत्र उत्कलजी ऐसे लोक विरुद्ध कौन-से कार्य करते थे, जिससे समस्त प्रजा उनके विरुद्ध हो गयी। वे ऐसे क्रूर कर्मा क्यों हुए ?"

इस पर मैत्रेय मुनि ने कहा—"विदुरजी ! शास्त्रकारों का सिद्धान्त है कि पवित्र धर्मात्मा श्री लक्ष्मी-सम्पन्न परिवार में योग-भ्रष्ट पुरुष आकर जन्म लेते हैं। जैसे ध्रुवजी भी योगभ्रष्ट थे, उनके पुण्य अधिक शेष थे, अतः वे पृथ्वी का शासन भी करते रहे और अन्त में ध्रुव-लोक का भी शासन अब तक कर रहे हैं। किन्तु उनके पुत्र उत्कल तो पूर्वजन्म के कोई मोक्ष धर्मी पाप-पुण्य से रहित कोई महायोगी थे। कोई सूक्ष्म-सा पुण्य शेष रह गया था, उसी के फलस्वरूप आकर राजपुत्र हुए। किन्तु वे जातिस्मर थे। उन्हें पूर्वजन्म की सभी बातें याद थीं। वे सोचने लगे—"यदि इस जन्म में भी मैं राज्य-भोगों में फँस जाऊँगा तो मेरा आवागमन नहीं छूटने का। संसार में इसी प्रकार मरता और जन्म लेता रहूँगा। अतः कोई ऐसा उपाय करो कि इस राज-काज से पिण्ड छूटे। प्रजा के लोग स्वयं ही हमें राजगद्दी से हटा दें। हमें स्वयं राज्य छोड़ना न पड़े। यह सोचकर वे विपरीत आचरण करने लगे। वैसे उनमें कोई दोष नहीं था। जन्म से ही वे शान्तचित्त, असङ्ग, समदर्शी और सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को देखने वाले परम ज्ञानी और योगी थे। उनके पाप-पुण्य रूपी संस्कार तो शेष रहे नहीं थे, किञ्चित् मात्र जो शेष थे, उन्हें राजपुत्र होकर वे भोग चुके थे, अब तो अखण्ड योगाग्नि से कर्मों के समस्त संस्कार भस्मीभूत हो जाने के कारण वे सम्पूर्ण भेदों से रहित, एकमात्र ज्ञानस्वरूप, आनन्दमय, सर्वव्यापक, निर्वाणरूप ब्रह्म को

ही अपना आत्मरूप मानकर आत्मा के शिवा कुछ भी नहीं देखते थे। अतः वे राजा होकर ज्ञान की चरम स्थिति में रहने लगे। मार्ग में जिधर जा रहे हैं उधर ही चले जा रहे हैं। आगे वृक्ष है तो उससे हटते नहीं। कोई हिंसक जन्तु आ गया तो उससे डरते नहीं। लोगों को सन्देह होने लगा कि अवश्य ही यह अन्धा है, वैसे आँखें तो हैं इनमें प्रकाश नहीं। इसे दिखायी नहीं देता। किसी ने कुछ पूछा तो कुछ भी उत्तर नहीं, सबकी बातें अनसुनी कर देते। लोग समझते कि इसे सुनाई भी नहीं देता। मन्त्री कुछ पूछते तो अँ अँ कर देते बोलते ही नहीं, उन्हें सन्देह होने लगा, यह गूंगा तो नहीं हो गया। देख रहे हैं तो देख ही रहे हैं, लेटे हैं तो लेटे ही हैं, बैठे हैं तो पहरों बैठे ही रहते हैं। सबने समझा यह तो पागल हो गया, ऐसा जड़ राजा क्या कर सकता है। इसीलिये सब बूढ़े मन्त्रियों ने कहा—"देवताजी! आप अब अपने पागलपने में मस्त रहिये। इस राजसिंहासन को छोड़िये। इस पर हम दूसरे राजकुमार को बिठायेंगे।" उन्हें तो यह अभीष्ट ही था। राज्य छोड़कर वन को चले गये।

अब सब मन्त्रियों ने मिलकर ध्रुवजी की दूसरी पत्नी भ्रमि के पुत्र वत्सर को राजसिंहासन पर बिठाया। वत्सर धर्मपूर्वक राज्य का पालन करने लगे। उनका विवाह स्वथि से हुआ। महारानी स्वथि अपने पति की परम प्रेयसी थीं। उनके गर्भ से महाराज वत्सर ने ६ पुत्र उत्पन्न किये। जिनके नाम पुष्पार्ण, तिग्मकेतु, इष, अर्ज, वसु और जय थे। इन सब में पुष्पार्ण बड़े थे, अतः नियमानुसार वे ही राजा हुए। उन्होंने भी ध्रुवजी की भाँति दो विवाह किये। एक रानी का नाम प्रभा था दूसरी का दोषा। प्रभा के गर्भ से दिन के तीनों कालों के अभिमानी तीन देवता हुए, प्रातः मध्यानन्दि और सायं इन नामों से प्रसिद्ध हुए।

दोषा के गर्भ से प्रदोष निशथ और व्युष्ट ये रात्रि के तीनों कालों के तीन अभिमानी देवता हुए। इनमें व्युष्ट राजा हुए।

व्युष्ट की पत्नी का नाम पुष्करिणी हुआ। जिससे सर्वतेजस् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। महाराज सर्वतेजस् की भार्या का नाम आकूति था। उसके गर्भ से चक्षुमनु उत्पन्न हुए। चक्षुमनु की धर्म-पत्नी का नाम नड्वला था जिसके गर्भ से परम तेजस्वी वीर्यवान् १२ पुत्र हुए। जो पुरु, कुत्सत्रित, द्युम्न, सत्यवान्, मृत, वत, अग्निष्टोम, अतिरात्र, प्रद्युम्न, शिवि और उल्मुक हैं। इन नामों से जगत् में विख्यात हुए। इन सब में उल्मुक राजा हुए। ज्ञात होता है ये सब-के-सब धर्मात्मा देवत्व को प्राप्त हुए। इसीलिये सबसे छोटे को राज्यसिंहासन मिला।

महाराज उल्मुक की धर्मपत्नी का नाम पुष्करिणी था, जिसके गर्भ से अङ्ग, सुमनस्, ख्यातु, क्रतु, अङ्गिरस् और गय ये ६ परम धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न हुए। ज्येष्ठ होने तथा श्रेष्ठ होने के कारण अङ्ग को राजगद्दी मिली। महाराज अङ्ग ने मृत्यु की कन्या सुनीथा से विवाह किया। जिसके क्रूरकर्मा परम दुष्ट वेन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जिसने पृथ्वी पर होने वाले सभी यज्ञयाग आदि धार्मिक कृत बन्द कर दिये।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा--"सूतजी ! ध्रुवजी के वंश में उत्पन्न हुए महाराज अङ्ग का हमें सम्पूर्ण वृत्त सुनावें। ऐसे विशुद्ध कुल में उत्पन्न हुए महाराज अङ्ग के यहाँ वेन जैसा क्रूरकर्मा कुमार कैसे उत्पन्न हुआ ? महाराज के किस पाप का यह फल था। इन सब बातों को हमारी सुनने की इच्छा है, अतः संक्षेप न करें, सब बात विस्तार से बतावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो ! मैं महाराज अङ्ग का चरित्र सुनाकर फिर वेन की क्रूरता का वृत्तान्त बताऊँगा, आप सब समाहित चित्त होकर श्रवण करें।"

त्रुटय

ध्रुवके वत्सर पुत्र भये पुष्पार्ण तासु सुत ।
तिनके बेटा व्युष्ट, सर्वतेजस सुत तपयुत ॥
आकूतीमहँ पुत्र, चक्षु मनु तिनके सुखकर ।
मनुके उल्मुक भये, तिन्हींके अङ्ग पुत्रवर ॥
मृत्यु सुताको अङ्गने, पाणिग्रहण विधिवत् कियो ।
ताहींतें अतिक्रूरतर, वेनपुत्र पैदा भयो ॥

मृत्युपुत्री सुनीथा

[२५०]

सुनीथाङ्गस्य या पत्नी सुषुवे वेनमुल्बणम् ।
यद्दौःशील्यात्स राजर्षिर्निर्विण्णो निरगात्पुरात् ।।*

(श्री० भा० ४ स्क० १३ अ० १८ श्लोक)

छप्पय

जो-जो कारज करत सदा माता-पितु दीखें ।
वे ई सबरे काज बालिका बालक सीखें ॥
सुता सुनीथा मृत्यु पिताकूँ सबकूँ मारत ।
निरखे नित प्रति दण्ड देत ताड़त हुङ्कारत ॥
तप सुशङ्ग वनमहँ तपत, मृत्यु सुता तहँ जाइकें ।
तड़ तड़ ताड़न नित करति, मारति तोत्र सिहाइकें ॥

बच्चों का स्वभाव अनुकरण शील होता है, बच्चे माता-पिता को जो करते हुए देखते हैं, उसी को पहिले खेल-खेल में करते हैं, फिर वैसा करने की उनकी बान पड़ जाती है। कुछ संस्कारी बालक इसके अपवाद भी होते हैं, किन्तु प्रायः ऐसा ही देखा गया है कि बच्चों के हृदय पर माता-पिता के कार्यों का ही प्रभाव पड़ता है। इसीलिये तो हमारे यहाँ बात-बात पर कुलीनता का

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी (मृत्युपुत्री) सुनीथा महाराज अङ्ग की पत्नी हुई, जिसने क्रूरकर्मा वेन नामक पुत्र को उत्पन्न किया। जिसकी दुष्टता से दुखित होकर राजर्षि महाराज अङ्ग अपने नगर को त्यागकर वन को चले गये।"

ध्यान रखा जाता है। कुलीन पुरुषों से व्यवहार करो। विवाह सम्बन्ध करना हो तो दोनों कुल देखकर करो। जैसे कुल में सम्बन्ध होगा। सन्तान में उसके थोड़े बहुत संस्कार अवश्य ही आ जायँगे। इस विषय में एक बहुत ही प्रसिद्ध आख्यायिका प्रसिद्ध है।

किन्हीं महात्मा के यहाँ एक कुतिया रहती थी, भिक्षा से जो कुछ बच जाता, महात्मा उसे डाल देते। महात्मा का उच्छिष्ट खाते-खाते उसमें सुशीलता, सौम्यता तथा सरलता आ गयी। किसी को देखकर भौंकती नहीं थी, कोई उपद्रव या कुतियापन का कार्य नहीं करती थी। महात्मा सिद्ध थे। उन्हें एक दिन दया आ गयी। वे सोचने लगे—"देखो, कैसी सीधी-सादी कुतिया है, किसी पाप से इसे यह योनि मिल गयी है, नहीं तो इसमें कुतियापने की कोई भी बात नहीं। महात्माओं की लहर ही तो है। जिधर भी उमड़ पड़े कृपावश। उन्होंने गङ्गा जल को मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित करके उस पर छिड़क दिया। देखते-देखते वह अत्यन्त सुन्दरी कन्या बन गयी। मुनि की कृपा से उसे अत्यधिक रूप लावण्य मिला था। जो भी उसे देखता, वही उसकी ओर देखता-का-देखता ही रह जाता। वहीं रहकर वह मुनि के आश्रम में झाड़ू बुहारू देती। गौओं के गोबर से नित्य आश्रम को लीप देती।

किसी समय उस देश के राजा महात्मा के दर्शनों के लिये आया। उस अत्यन्त सुन्दरी कन्या को इधर-से-उधर अपनी प्रभा से आश्रम को प्रभावित करती हुई देखकर और झाड़ू बुहारू में व्यग्र निहारकर राजा ने पूछा—"भगवन्! यह कन्यारत्न आपके यहाँ कहाँ से आ गया। यह तो महाराजजी राजमहल में रहने योग्य है। आप बाबाजियों के यहाँ तो ऐसे रमणी-रत्न का दुरुपयोग ही है। इसके ये कमल की पंखुड़ियों के समान कोमल कर क्या झाड़ू-बुहारू और लीपने योग्य हैं।"

महात्माजी समझ गये कि लड़की राजा के मन पर चढ़ गयी है। हँसते हुए मुनि बोले—"राजन्! क्यों आप अपने मन को चञ्चल करते हैं। आपके अन्तःपुर में अनेक अच्छे-अच्छे कुलीन राजाओं के कुलों की कुलवती कन्यायें हैं। आप इसका क्या करेंगे। इसके कुल गोत्र का भी तो पता नहीं।"

राजा ने बड़ी उत्सुकता और आग्रह के स्वर में कहा—"महाराजजी! रत्न का क्या कुल गोत्र। रत्न तो रत्न ही है। अशुद्ध स्थान पर पड़े हुए रत्न को क्या कोई छोड़ सकता है। शूद्र के घर की गो का दुग्ध क्या अपवित्र होता है। कन्यारत्न तो विशुद्ध होता है। आपकी मेरे ऊपर कृपा है तो इस ललना रत्न को मुझे प्रसाद रूप में दे दें। इसे मैं अपने हृदय का हार बनाकर अपने समस्त रानियों में इसे श्रेष्ठ बना दूँगा। इसे कोई भी कष्ट न होगा।"

महात्मा हँसे और बोले—"ले जाइये राजन्! अपने राम को क्या माया मोह। अपने तो सङ्कल्प से नित्य ऐसे रत्न बनते-बिगड़ते रहते हैं। हमारे लिये जैसा ही कुतिया का रूप ऐसा ही इसका रूप।" राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसे ले गये और उसके साथ विवाह कर लिया। अपनी सब रानियों में उसे सर्वश्रेष्ठ बना दिया। अन्तःपुर में वह अकेली महाराज के साथ रहने लगी। कैसी भी रानी बन गयी थी, फिर भी कुतिया के संस्कार कहाँ जाते, यह तो महात्मा की विशेष कृपा थी जो उसका रूप बदल दिया। संस्कार तो प्रायः शरीर के अन्त होने पर ही, भोग समाप्त होने पर ही बदलते हैं। राजा जब सो जाते तो वह धीरे से उठकर दीपक के सब तेल को चाट जाती। राजा नौकरों को डाँटते—"ऐसा दीपक क्यों रखते हो, जो प्रातः तक नहीं जलता?"

सेवकों ने विनय के साथ कहा—"अन्नदाता! हम जैसा सदा

भरकर रखते थे वैसा ही रखते हैं, सम्भव है वायु के झोंके से बढ़ जाता होगा।"

राजा ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"बढ़ कैसे जाता होगा। बढ़ जाता तो उसमें तैल तो अवश्य रहता। उसमें एक बूँद भी तैल नहीं रहता।"

सेवकों ने कहा—"प्रभो! आप भले ही नित्य देख लिया करें। हमारा कुछ अपराध नहीं।"

यह सुनकर महाराज ने २-३ दिन देखा। सेवकों की बात तो ठीक ही थी। एक दिन वे सोये नहीं, किन्तु कपड़े ओढ़कर ऐसे पड़ गये मानों गाढ़ निद्रा में सो रहे हों। जब कुतिया रानी ने देखा राजा सो गये हैं तो वह शनैः-शनैः उठी और चपर-चपर करके दीपक के सब तैल को चाट गई। अब तो राजा के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वे बराबर सोचते—"यह है कौन? अरे, मेरे यहाँ खाने-पीने की कुछ कमी नहीं, नित्य ५६ पदार्थ बनते हैं। फिर भी यह चोरी छिपकर दीपक के तैल को चाटती है। अवश्य ही यह कोई राक्षसी है।" यही सब सोचते-सोचते राजा को प्रातःकाल हो गया। वे शीघ्रता के साथ नित्य कर्मों से निवृत्त हुए और रथ जोतकर उस नई रानी को उसमें बिठाकर अकेले ही महात्मा के आश्रम को चले।

राजा वैसे बड़े कर्मकाण्डी थे। महल के भीतर कभी कोई कुत्ता नहीं जा सकता। कुत्ते को बहुत अशुद्ध माना है। आज जब उनका रथ जा रहा था तो एक गाँव के पास बहुत से कुत्ते हु-हू करके रो रहे थे। अब तो इस कुतिया रानी से भी नहीं रहा गया। यह भी हहह-हू····करके चिल्ला उठी। राजा बड़े डरे कि इस डायन से अच्छा मेरा पाला पड़ा। न जाने यह कौन है?

महात्मा के आश्रम पर पहुँचे। महात्माजी तो देखते ही समझ गये कुछ दाल में काला है। हँसते हुए बोले—"कहिये राजन्!

क्या हाल-चाल है ? आपकी नई रानी आपके अनुरूप व्यवहार करती है न ?"

राजा ने खीजकर कहा—"अजी, महाराज ! किस डाइन को आपने मेरे पल्ले बाँध दिया। अब उसकी लीला कुछ पूछिये मत। इस ग्रह से मेरा किसी भाँति पिण्ड छुड़ाइये।"

यह सुनते ही महात्माजी बड़े जोर से ठहाका मारकर हँसते हुए बोले—"राजन् ! कन्यारत्न में क्या दोष है ? यह तो ललना-रत्न है।"

राजा व्याकुलता के साथ कहने लगे—"भगवन् ! ऐसा रत्न यहाँ आश्रम में ही रहे मेरे ऊपर तो कृपा हो। दया करके मुझे यह बताइये कि यह कोई भूतिनी है कि पिसाचिनी है या डाकिनी साकिनी है ?"

महात्माजी तो हँस पड़े और बोले—"राजन् ! मैंने तो आपसे पहिले ही कहा था, विवाह कुल गोत्र देखकर करना चाहिये। यह नहीं कि जहाँ चटक-मटक देखी वहीं फिसल पड़े। न तो यह भूतिनी, न पिसाचिनी, न डाकिनी, न साकिनी है। यह जो है, उसे मैं आपको अभी बताता हूँ।" इतना कहकर महात्माजी ने फिर मन्त्र पढ़कर उसके ऊपर जल छिड़का। उसी समय वह कुतिया बनकर पूँछ हिलाने लगी। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे महात्मा की सिद्धि की प्रशंसा करते हुए उनकी चरण धूलि सिर पर चढ़ाकर चले गये।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! महाराज ध्रुव के वंश में जो उल्मुक नाम के राजा हुए, उनके ६ पुत्र थे। उनमें सबसे बड़े का नाम अङ्ग था। जो कि बड़े होने के कारण राज्य सिंहासन के अधिकारी हुए। उनका विवाह मृत्यु की कन्या सुनीथा के साथ हुआ। सुनीथा के पिता मृत्यु सबको मारने-पीटने वाले थे, इसी-लिये नाना के दोष से महाराज अङ्ग के पुत्र वेन बड़े क्रोधी और

क्रूर स्वभाव वाले हुए। सुनीथा के क्रूरता के कारण ऐसे क्रूरकर्मा सुत होने का उसे तपस्वी सुशङ्ख का शाप भी था।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! सुनीथा को सुशङ्ख का शाप कैसे हुआ ? सुशङ्ख कौन थे ? फिर सुनीथा का विवाह महाराज अङ्ग के साथ कैसे हुआ ? इन सब बातों को विस्तार से आप बतावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! यह तो बहुत बड़ा प्रसङ्ग है। विस्तार के साथ वर्णन करने लग जाऊँ तो इसी में बहुत समय व्यतीत हो जाय, अतः में इस प्रसङ्ग को अत्यन्त ही संक्षेप में आपके सम्मुख वर्णन करूँगा। आप इसे सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करें।" इतना कहकर सूतजी सुनीथा के चरित्र को सुनाने लगे।

सूतजी बोले—"मुनियो ! सब प्राणियों को मारने ताड़ने वाले मृत्युदेव के एक सर्वगुणसम्पन्ना सुनीथा नाम की कन्या उत्पन्न हुई। मृत्युदेव उस परम सुन्दरी कन्या को अत्यन्त स्नेह, बड़े लाड़ चाव के सहित पालन करने लगे। लड़की जब कुछ बड़ी हुई तो अपने बाप की गोद में बैठकर सब बातें देखने लगी। मृत्यु का काम ही है, किसी को मारना, किसी को ताड़ना, किसी को दुःख देना। सुनीथा ने समझा मारना-पीटना ही अच्छा काम है, यदि ऐसा न होता तो मेरे पिता सबको क्यों मारते।

जब लड़की सयानी हुई तो वन-उपवनों में विहार करने जाती। वहाँ नन्दन कानन के समीप के एक उपवन में सुशङ्ख नाम का एक बड़ा तपस्वी गन्धर्व एकान्त में रहकर घोर तप करता था। गन्धर्व वैसे ही बड़े सुन्दर होते हैं, जिसमें वह सुशङ्ख तो अत्यधिक सुन्दर था। यह सुनीथा जाती और उसे अकारण पीटने लगती। वह बिचारा बड़ा गम्भीर था, बड़े स्नेह से पूछता—"बच्ची ! मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है, तू मुझे क्यों पीटती है ?" किन्तु इसकी तो

पिता के कार्य को देखते-देखते मारने-पीटने की बानि पड़ गई थी। इसलिये कुछ भी न सुनती। पीट-पाटकर चली जाती।

१०-५ दिन तो सुशङ्ख सहते रहे। एक दिन उसने डाँटकर कहा—"लड़की ! तू यहाँ मत आया कर।"

उसने कड़ककर कहा—"क्यों न आया करें, तेरे बाप का वन है, तू जानता नहीं मैं तीनों लोकों के स्वामी मृत्यु की पुत्री हूँ।"

सुशङ्ख ने क्रोध में भरकर कहा—"तू मृत्यु की नहीं, चाहे जिसकी लड़की हो। यदि तू कल से यहाँ आई तो फिर भला न होगा।"

सुनीथा ने मुँह मटकाकर सिर हिलाकर आँखें चढ़ाकर गाल पिचकाकर कहा—"हम आवेंगे, आवेंगे अवश्य आवेंगे, जो हमारी इच्छा होगी करेंगे, तू रोकने वाला कौन होता है ? कर लेना जो तुझे करना हो।" इतना कहकर वह चली गई। अपने बाप से भी उसने जाकर कह दिया। मृत्यु ने सोचा—"लड़की है, ऐसे ही लड़लड़ा पड़ी होगी, इसलिये वे कुछ भी न बोले।"

दूसरे दिन फिर गई। सुशङ्ख ध्यान में बैठे थे। इसने उन्हें मारना आरम्भ कर दिया। तब तो उसे बड़ा क्रोध आया। उसने डाटकर कहा—"क्यों री छोरी ! तू न मानेगी।"

सुनीथा आँखें नचाकर धृष्टता के साथ कहा—"हाँ नहीं मानेगी, कर ले हमारा क्या करता है।" इस पर उसे भी क्रोध आ गया। उसने क्रोध में भरकर आचमन करके शाप दिया—"जा दुष्टे ! तू मुझ निरपराधी को मारती है, इसलिये तेरे गर्भ से एक ऐसा क्रूरकर्मा दुष्ट पुत्र उत्पन्न होगा, जो वेदमार्ग का दूषक, गौ ब्राह्मणों का निन्दक, यज्ञ सत्कर्मों से रहित और पापी होगा।"

इस शाप को सुनते ही सुनीथा की सब सिटिल्ली भूल गई। उसका मन उदास हो गया और खिन्न चित्त से अपने पिता के समीप गई। पिता से उसने आदि से अन्त तक सभी वृत्तान्त कह

दिया। यह सुनकर पिता को बहुत दुःख हुआ। उसने कहा—"बेटी! उस शान्त, दान्त, परम तपस्वी, महान वनवासी समाधिस्थ महात्मा को तैंने अकारण दुःख क्यों दिया। उनका शाप अन्यथा नहीं हो सकता।"

यह सुनकर सुनीथा भी बड़ी उदास हुई। वह सयानी हो गई थी। मृत्यु को रात-दिन उसके विवाह की चिन्ता लगी रहती थी। वे उसके विवाह के लिये सब स्थानों में घूमे, किन्तु ऐसी शापित लड़की के साथ देवता, गन्धर्व, किंपुरुष, गुह्यक किसी ने भी विवाह करने को स्वीकार नहीं किया। इससे मृत्यु को भी बड़ी ग्लानि हुई, सुनीथा भी अपने भाग्य को धिक्कार देती हुई पिता को प्रणाम करके तपस्या करने वन में चली गई। वह अत्यन्त खिन्न मन से तपस्या करने लगी। बिना खाये शरीर को सुखाने लगी। उसी समय वन में क्रीड़ा करती हुई, उसकी रम्भा आदिक सखी सहेली वहाँ आ पहुँचीं। उन्होंने जब सुनीथा को इस प्रकार खिन्न मन से शरीर सुखाते हुए देखा तो बड़े स्नेह से वे पूछने लगीं—"बहिन! तुम इतनी दुखी क्यों हो? अपने दुःख का कारण हमें बताओ। हम तुम्हारी भयेली सहेली हैं, हम शक्ति भर तुम्हारे दुःख को दूर करने का प्रयत्न करेंगी।"

अत्यन्त उदास मन से सुनीथा ने कहा—"जीजियो! मेरा दुःख ऐसा है कि उसे कोई मेंट नहीं सकता। मैंने अपने पाप कर्मों से स्वतः ही दुःख मोल ले लिया है। मैंने निरपराध सुशङ्ख मुनि को कष्ट दिया है। उनके बार-बार निषेध करने पर भी जब मैं न मानी तो उन्होंने क्रुद्ध होकर मुझे शाप दे दिया है कि तेरे गर्भ से अत्यन्त क्रूरकर्मा दुष्ट वेद निन्दक प्राणियों का हिंसक पुत्र उत्पन्न हो। इसी दोष के कारण मुझसे कोई विवाह करने को स्वीकार नहीं करता। मेरे पिता बड़े बलवान् हैं, तीनों लोकों के स्वामी हैं, फिर भी पुत्री के पिता होने के कारण, उन्हें सबके

सम्मुख नवना पड़ता है। उस समय मुझे बड़ी ग्लानि हुई, जब वे मेरा हाथ पकड़कर देवता, गन्धर्व, यक्ष, गुह्यक, किन्नर सभी के पास गये कि वह मेरी कन्या बड़ी सुन्दरी, सुशीला और सर्वगुण सम्पन्न है, आप इसके साथ विवाह कर लें, किन्तु पिता की प्रार्थना पर भी सबने कह दिया, "इसे मुनि का शाप है, इसके गर्भ से क्रूर कर्मा पुत्र होगा, इसलिये हम अपने कुल में कलङ्क लगाना नहीं चाहते। हम इससे विवाह नहीं कर सकते।" इससे मेरा हृदय विदीर्ण हो गया है, अब मैं जीवित रहना नहीं चाहती। यहीं वन में बिना कुछ खाये प्राण त्याग दूँगी।"

उसके ऐसे दुःख और आत्मग्लानि पूर्ण वचन सुनकर रम्भा बोली—"बहिन! तुम चिन्ता मत करो। जीव से अपराध तो हो ही जाता है। संसार में कौन अपराध से बचा है? ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र, सूर्य, चन्द्रमा तथा और भी ऋषि मुनियों तक से भूल हो गई है। अब देखो, 'बीती ताहि बिसारि दे आगे की सुधि लेउ।' शाप किसे नहीं हुआ। ब्रह्माजी को पूज्यत्व का शाप हुआ। विष्णु भगवान् को दशावतार होने का शाप, शिवजी को कपाली नग्न होने का शाप, इन्द्र को सहस्र नेत्र होने का शाप, सूर्य को कुष्ट होने का, चन्द्रमा को क्षयी होने का। कौन शाप से बचा है। तुम इतनी दुखी क्यों होती है। मैं तुम्हारी सहायता करूंगी और ऐसे सुन्दर पति से तुम्हारा विवाह कराऊँगी, जिसकी बराबर का पृथ्वी पर दूसरा कोई भी न होगा।"

यह सुनकर सुनीथा को बड़ी प्रसन्नता हुई। रम्भा ने उसे एक मोहिनी विद्या सिखा दी कि जिस पुरुष की ओर भी वह आसक्ति सहित देख दे, वही उसके वश में हो जाय। ऐसी विद्या सिखाकर अप्सराओं में श्रेष्ठ रम्भा अपनी सखी सहेलियों के सहित नन्दन वन में ले गई।

इधर महाराज अङ्ग पुत्र की कामना से नन्दन वन में घोर

तप कर रहे थे। रम्भा ने दूर से ही दिखाया और हँसकर बोली—"यदि तुम्हें यह पुरुष पसन्द हो तो इससे साँठ-गाँठ लगाऊँ।" तपस्वी अङ्ग कामदेव से भी अधिक सुन्दर थे। सुनीथा का मन उनमें फँस गया। अब उसने अपनी मोहिनी विद्या के जाल उस तपस्वी के अङ्ग पर डाला। एकान्त में बैठकर वीणा के स्वर-में-स्वर मिलाकर सुमधुर स्वर से गान करने लगी। इधर तो सुनीथा की कोमल उँगलियों के आघात से निर्जीव वीणा के तार झंकृत हो रहे थे, उधर तपस्वी अङ्ग के हृदय में भी स्मरशर के लगने से उनकी भी हृदतन्त्री के तार झनझना उठे। वे ध्यान छोड़कर इधर-उधर देखने लगे। अवसर पाकर हँसती मुस्कराती मिथ्या-वीणा दिखाती रम्भा ने जाकर कहा—"देव! क्या देख रहे हैं, आपके कान क्यों खड़े हैं, आँखों के पलक क्यों नहीं गिरते?"

अङ्ग ने कहा—"इस वीणा की झङ्कार के सुमधुर गान ने मेरा मन हर लिया है, मैं अपने आपे में नहीं रहा हूँ।"

रम्भा ने कहा—"तो आप क्या चाहते हैं? यह मेरी सखी बजाकर गा रही है। यही अपने सौन्दर्य की प्रभा से दशों दिशाओं को आलोकित कर रही है। क्या आप इस गायन को सुनना चाहते हैं?"

तपस्वी अङ्ग बोले—"अहा, यह गायन तो मेरे कानों में अमृत उड़ेल रहा है। यह गायन सुनने को मिले तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ।"

रम्भा ने कहा—"गाना ही मिले या और भी कुछ?"

महामना अङ्ग बोले—"और क्या?"

हँसते हुए रम्भा ने कहा—"यदि गाने वाली भी मिल जाय तब?"

अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए राजा ने कहा—"तब, क्या पूछना? 'नेकी और पूछ-पूछकर, चुपड़ी और दो-दो, मीठा और

भरि कठौता।' तब तो मानों मेरी तपस्या की सिद्धि ही मूर्तिमती बनकर मुझे मिल जाय।"

तपस्वी अङ्ग का ऐसा अनुराग देखकर रम्भा उन्हें सुनीथा के पास ले गई। उसने तो मोहिनी विद्या से महाराज अङ्ग को वश में कर रखा था। अङ्ग अपने आपे को भूल गये। अप्सरा गन्धर्वों ने मिलकर अङ्ग और सुनीथा का गान्धर्व विवाह कर दिया। महाराज ने अपने जीवन को धन्य-धन्य समझा। इस पर रम्भा ने कहा—"महाराज! मेरी सखी के साथ छल मत करना, मुझे एक वचन दो।" ये पुरुष बड़े स्वार्थी होते हैं। जब इनका कोई प्रयोजन होता है तो स्त्रियों से ऐसी बातें बनाते हैं मानों कितना स्नेह करते हैं। जहाँ प्रयोजन सिद्ध हुआ कि फिर बात भी नहीं करते, मुँह से भी नहीं बोलते।

महाराज ने दीनता से कहा—"नहीं, ऐसी बात मेरे विषय में तुम मत सोचो। तुम जो कहोगी वही मैं करूँगा।"

इस पर रम्भा ने कहा—"महाराज! आप यही वरदान दें कि मेरी सखी चाहे जैसा अपराध करे, इससे चाहे जितनी त्रुटि हो आप इसका जीवन भर त्याग न करें।"

रम्भा की यह बात सुनकर महाराज अङ्ग ने प्रतिज्ञा की। तब तो वे उन सबसे विदा होकर अपनी नई बहूरानी को साथ लेकर अपने नगर में आये और बड़े आनन्द के सहित सुनीथा के साथ आनन्द विहार करने लगे। सुनीथा के सौन्दर्य पर महाराज ऐसे लट्टू हो गये कि उन्होंने उस पर अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। कालान्तर में इसी सुनीथा के गर्भ से क्रूरकर्मा वेन का जन्म हुआ। जिसने समस्त वैदिक धर्म कर्मों को बन्द कर दिया था। जो बड़ा क्रूर, हिंसक, दुष्ट और वेदमार्ग के विपरीत आचरण करने वाला हुआ।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हमने तो कथा प्रसङ्ग

में सुना है महाराज अङ्ग अत्रि के पुत्र थे और आप उन्हें ध्रुवजी के वंश में महाराज उल्मुक का पुत्र बता रहे हैं।"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाराज! किसी कल्प में अङ्ग श्री अत्रि के भी पुत्र हुए होंगे, किन्तु इस भागवती कथा के प्रसङ्ग में तो वे उल्मुक के ही पुत्र हैं।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"हाँ, यह तो कल्पभेद से कुछ अन्तर हो ही जाते हैं। अब आप हमें यह सुनाइये कि धर्मात्मा महाराज अङ्ग के क्रूरकर्मा वेन पुत्र कैसे पैदा हुआ?"

यह सुनकर सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है, मैं भगवान् के अवतार महाराज पृथु के पिता वेन का चरित्र सुनाकर भगवान् पृथु का चरित्र सुनाऊँगा।"

छप्पय

बरजे बहुत सुशङ्ख सुनीथा सदा सतावे।
दयो शाप अति क्रूर पुत्र तू दुष्टा जावे॥
भई खिन्न मुनि शाप समुझि नहिँ ब्याह भयो जब।
तप हित वनमहँ गई, अङ्ग सँग मेल भयो तब॥
रम्भाने तिकड़म करी, अङ्ग सङ्ग मन मिलि गयो।
भयो ब्याह रानी बनी, दुष्ट वैन ताकें भयो॥

महाराज अङ्ग का पुत्रप्राप्ति के लिये यज्ञ

[२५१]

नरदेवेह भवतो नाघं तावन्मनाक् स्थितम् ।
अस्त्येकं प्राक्तनमघं यदिहेदृक् त्वमप्रजः ॥
तथा साधय भद्रं ते आत्मानं सुप्रजं नृप ।
इष्टस्ते पुत्रकामस्य पुत्रं दास्यति यज्ञभुक् ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १३ अ० ३१, ३२ श्लोक)

छप्पय

अङ्ग करयो इक राजसूय सुर नहिँ तिहिँ आये ।
कारण पूछ्यो भूप विप्र अघ पूर्व बताये ॥
तिनकी आज्ञा मानि यज्ञ पुत्रेष्टि रचायो ।
यज्ञेश्वरतें भूप मात्र पायसको पायो ॥
सूँघि सुनीथाकूँ दयो, खाइ गर्भ ताके रह्यो ।
गर्भवती रानी लखी, मन प्रसन्न सबको भयो ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"हे विदुरजी ! जब आवाहन करने पर भी अङ्ग के यज्ञ में देवता नहीं आये तब राजा ने सदस्यों से इसका कारण पूछा । सदस्य कहने लगे—"राजन् ! आपसे इस जन्म में तो कोई अणुमात्र भी अपराध बना नहीं, किन्तु पूर्वजन्म का एक अपराध आपका अवश्य है, इसी से आप पुत्रहीन हैं । अतः पहिले आप सुन्दर सन्तान प्राप्ति के लिये प्रयत्न करें । जब आप पुत्र की कामना से पुत्रेष्टि यज्ञ करेंगे । तो यज्ञ भुक् भगवान् अवश्य आपको पुत्र प्रदान करेंगे । महाराज, आपका कल्याण हो, आप ऐसा ही करें ।"

जब तक शरीर में पूर्वकृत पाप हैं, तब तक पुण्य कार्य सिद्ध नहीं होते। इसीलिये यज्ञादि शुभ कर्मों के पूर्व प्रायश्चित्त कराने की विधि है। पहिले प्रायश्चित्तादि करके शरीर-शुद्धि मन-शुद्धि हो जाय तब यज्ञादि शुभ कर्मों की दीक्षा का पुरुष अधिकारी होता है। अनधिकार चेष्टा व्यर्थ होती है, अतः सब कार्यों में पहिले पात्रता की परम आवश्यकता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महाराज अङ्ग का मृत्यु-पुत्री सुनीथा के साथ विवाह हो गया। अब राजा ने सोचा—"मुझे स्वर्ग की कामना तथा यश ऐश्वर्य के निमित्त जैसे मेरे पूर्वज अश्वमेधादि यज्ञ करते आये हैं, उसी प्रकार मुझे भी यज्ञ करने चाहिये। क्योंकि राजाओं का ऐश्वर्य यज्ञों के द्वारा ही प्रकट होता है। लोग उसके यश का वर्णन करते हुए कहा करते हैं "ये हयमेध याग है", उन्होंने ३ बड़े-बड़े अश्वमेध यज्ञ किये हैं। जो पृथ्वी पर रहकर १०० अश्वमेध यज्ञ कर लेता है, वह स्वर्ग का राजा इन्द्र बन जाता है, मैं भी एक विपुल द्रव्य लगाकर वृहद् अश्वमेध यज्ञ करूँ।"

राजा ने अपना अभिप्राय वेदज्ञ ब्राह्मणों को सुनाया। ब्राह्मण तो यह चाहते ही रहते हैं, किसी की धर्म में वृद्धि हो, अधर्म में क्षय हो, ब्राह्मणों को दक्षिणा मिले और १०-१२ दिन खूब माल घुटें। धूम-धाम हो, चहल-पहल हो, ब्राह्मणों ने एक स्वर से महाराज अङ्ग के शुभ सङ्कल्प का सब प्रकार से समर्थन किया।

अब फिर क्या था, होने लगी यज्ञ की तैयारियाँ। सजने लगे सत्र के साज, जमने लगे अश्वमेध के ठाठ। बढ़ने लगी ब्राह्मणों और दर्शनार्थियों की भीड़। ब्राह्मणों ने विधिवत् पूजन करके घोड़ा छोड़ा। विशाल वेदियाँ बनाई गयीं, समस्त यज्ञ सम्भार जुटाये गये। बड़े-बड़े वेद की विधि जानने वाले विप्रवर बुलाये गये। सर्व लक्षण सम्पन्ना सहधर्मिणी सुनीथा के सङ्ग अङ्ग महा-

राज ने यज्ञ-दीक्षा ली। वे हाथ में मृग का सींग लिये हुए मौनव्रत धारण करके यज्ञ कर्म में प्रवृत्त हुए।

उस युग में देवतागण यज्ञों में प्रत्यक्ष आ-आकर अपना-अपना भाग ग्रहण करते थे। देवताओं के भाग-विभाजन के समय विधिवत् आवाहनादि करने पर भी स्वर्गीय देवता महाराज अङ्ग के अश्वमेध यज्ञ में नही आये। इससे राजा को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने संकेत द्वारा ब्राह्मणों से पूछा—"मुझे कुछ आवश्यक बात निवेदन करनी है। मैं मौन व्रत को त्याग दूँ ?"

ब्राह्मणों ने आज्ञा दी—"हाँ महाराज ! आप कह सकते हैं, तब महाराज अङ्ग बोले—"हे सदस्यगण ! मैंने कितनी श्रद्धा सहित इस यज्ञ को आरम्भ किया है। कितनी पवित्र वस्तुएँ न्यायोचित प्राप्त द्रव्य द्वारा जुटाई हैं, कितने वेदविधि को जानने वाले विद्वान ब्राह्मण बुलाये हैं। फिर भी आवाहन करने पर भी देवतागण अपना भाग लेने क्यों नहीं आते ?"

इस पर आश्चर्य के सहित ऋत्विजों ने कहा—"राजन् ! इसी बात का तो हमें भी आश्चर्य हो रहा है कि देवतागण यज्ञ में क्यों नहीं आते। देवताओं के यज्ञ में न पधारने के तीन ही कारण हैं। या तो सामग्री अपवित्र, दोषयुक्त हो। अथवा यजमान के कार्य श्रद्धाहीन हों। या यज्ञ कराने वालों के यज्ञीय मन्त्र सामर्थ्यहीन, ब्रह्मचर्य व्रतों से रहित, अशुद्ध और शक्तिहीन हों। इन तीनों बातों में से यहाँ एक भी नहीं है। आपकी सामग्री बड़ी पवित्र है, बड़ी शुद्ध है। द्रव्य आपका अधर्म से उपार्जित नहीं है। न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करते हुए उनसे षष्ठांश लिया गया है। हमारे मन्त्र अमोघ हैं, हमने ब्रह्मचर्य व्रत पालन पूर्वक इनका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया है। फिर भी देवता नहीं आते महान् आश्चर्य है ?"

इस पर राजा ने कहा—"तब, महाराज ! मेरा कोई पाप होगा। जिस पाप के कारण देवता नहीं आते।"

इस पर ऋत्विजों ने कहा—"राजन् ! हम आपमें भी अणु-मात्र पाप नहीं देखते। आप बाल्यकाल से ही बड़े धर्मात्मा हैं, आपका वंशगत सदाचार बड़ा विशुद्ध है, आप नियम व्रतों का पालन करने वाले हैं। प्रतीत होता है, पूर्वजन्म में आपसे कोई बाल हत्या आदि पाप बन गया है, इसी कारण आपकी स्त्री के अभी तक कोई सन्तान नहीं हुई। बिना पुत्र के गति नहीं। पुत्र-हीन पुरुष के कर्म निष्फल हैं। अतः पहिले आप पुत्र की कामना से पुत्रेष्टि यज्ञ करें। हमारा विश्वास है कि यज्ञभुक् भगवान् आपकी भक्ति से सन्तुष्ट होकर अवश्य ही आपको पुत्र प्रदान करेंगे। जब आपके पुत्र हो जाय, तब फिर आप यज्ञ करेंगे तो उसमें सब देवता आ-आकर भाग लेंगे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! सदस्यों के मुख से यह बात सुनकर राजा ने पुत्रेष्टि यज्ञ आरम्भ की। ज्यों ही उन्होंने भगवान् के निमित्त पुरोडास अर्पण किया त्यों ही अग्निकुण्ड से एक सुवर्णमय मनोहर माला पहिने, अपनी आभा से दशों दिशाओं को आलोकित करते हुए विशुद्ध वस्त्रों से विभूषित हाथ में सुन्दर सिद्ध पायस का पात्र लिये हुए दिव्य पुरुष प्रकट हुए। उनके प्रकट होते ही सर्वत्र आनन्द छा गया। ऋत्विज, सदस्य, ऋषि मुनि तथा यजमान हाथों की अञ्जलि बाँधे हुए उनका अभ्युत्थान करने के निमित्त सहसा उठ खड़े हुए। ऋत्विजों ने अत्यन्त ही सम्भ्रम के साथ कहा—"राजन् ! आप बड़ी श्रद्धा के सहित इस खीर के पात्र को ग्रहण करें।"

ब्राह्मणों की अनुमति पाकर राजा ने अत्यन्त गौरव के सहित अञ्जलि में उस सिद्ध पायस पात्र को ले लिया। दिव्य पुरुष तुरन्त अन्तर्धान हो गये।

तब ब्राह्मणों ने कहा—"आप इसे सूँघकर अपनी पत्नी को प्रदान करें। आपकी महारानी इसे श्रद्धा सहित पायेंगी तो उनके अवश्य ही सन्तान होगी।"

ब्राह्मणों की ऐसी आज्ञा पाकर राजा ने उस खीर को सूँघा और सूँघकर अपनी रानी सुनीथा को दे दिया। सुनीथा ने भी उसे परम गुणयुक्त महान् समझकर बड़ी श्रद्धा के सहित भक्षण किया। उसके भक्षण करते ही रानी के गर्भ रह गया। इससे समस्त प्रजा में आनन्द छा गया।

अब तो सुनीथा को सुशङ्ख के शाप की बात याद आई। दिन-रात्रि उसे अपने पिता की ही बातें याद आतीं। वे सोचती—"मेरे पिता रात्रि-दिन कैसी क्रूरता करते रहते हैं। सभी को सताते हैं, सभी को दण्ड देते हैं, मारते हैं। उन्हीं से मैंने भी बाल्य-काल में यह बात सीख ली। तभी तो मैं निरपराध उन सुशङ्ख मुनि को मारती थी। उन्होंने क्रुद्ध होकर मुझे शाप दिया था—"तेरे क्रूरकर्मा हिंसक और सबको पीड़ा पहुँचाने वाला पाप रूप पुत्र उत्पन्न होगा। सम्भव है मेरे गर्भ में वही पापी आया। हाय! पापी पुत्र पैदा करके पिता-माता सदा दुखी बने रहते हैं। दिन-रात सुनीथा मृत्यु के ही स्वभाव को सोचती रहती थी, अतः गर्भस्थ बालक पर उन संस्कारों का बड़ा प्रभाव पड़ा।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! गर्भवती स्त्री निरन्तर जिन विचारों में निमग्न रहती है। उसकी सन्तान भी प्रायः उन्हीं विचारों की होती है। इसलिये गर्भवती स्त्री को कभी व्यर्थ की बुरी-बुरी बातें विचारनी नहीं चाहिये। न कोई पाप कर्म ही करना चाहिये। निरन्तर भगवत्चिन्तन करे और भक्तों के चरित्र श्रद्धा से सुनती तथा पढ़ती रहे। ऐसा करने से उसकी सन्तान श्रेष्ठ होगी।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! एक तो सुनीथा पहले से ही

शापित थी, दूसरे वह निरन्तर मृत्यु का स्मरण करती रहती। तीसरे राजा के शरीर में जितना पाप था वह सब कारणों से वह गर्भस्थ बालक अत्यन्त ही निर्दयी-क्रूर और वेद, विरुद्ध आचरण करने वाला नास्तिक हुआ। जिसे क्रुद्ध होकर ब्राह्मणों ने मार डाला।"

छप्पय

गर्भवती बनि सदा सुनीथा जिहीं बिचारे।
होवे पापी पुत्र क्रूरता मनमहँ धारे॥
अङ्ग अङ्गको पाप सिमिटि वीरजमहँ आयो।
शाप सुनीथा फल्यो क्रूर-कर्मा सुत जायो॥
गर्भकालमहं मातु जो, सोच सदा जैसो करे।
पूर्ण गर्भके होत ईं, सुत पैदा तैसो करे॥

अङ्ग का क्रूरकर्मा पुत्र वेन

[२५२]

स वाल एव पुरुषो मातामहमनुव्रतः ।
अधर्मांशोद्भवं मृत्युं तेनामवदधार्मिकः ॥
स शरासनमुद्यम्य मृगयुर्वनगोचरः ।
हन्त्यसाधुर्मृगान्दीनान् वेनोऽसावित्यरौज्जनः ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १३ अ० ३८, ४० श्लो०)

छप्पय

भयो पापमति वेन सदा मदमातो झूमे ।
तीर कमन्टा लिये मृगनि मारत वन घूमे ॥
छोरनि बाँधे दुष्ट ऐंचिकें जलमें डारे ।
मगमहँ मूरख पकरि मार मुक्कनिकी मारे ॥
शठता सुतकी सुनि सबहिँ, दुःख अङ्गकूं अति भयो ।
सोचें मनुकें वंशमहँ, कुलकलङ्क यह है गयो ॥

जन्मान्तरीय प्रबल संस्कार किसी प्रकार भी नहीं हटते।

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! सुनीथा के गर्भ का बालक अधर्म के वंश में उत्पन्न होने वाले अपने नाना मृत्यु के ही शील स्वभाव वाला बालकपने से ही हुआ, नाना के सम्बन्ध से वह अधार्मिक हुआ। कुछ बड़ा होने पर वह दुष्ट बालक हाथ में तीर कमान लिये वन में जाकर व्याध की भाँति भोले-भाले हिरनों को मारता फिरता था। उसे देखते ही सभी प्रजा के लोग चिल्ला उठते थे, वेन आ रहा है।"

गरुड़जी भगवान् के सखा हैं, सेवक हैं, भक्त हैं, वाहन हैं, फिर भी सर्पों के खाने का जो उनका स्वाभाविक संस्कार है वह नहीं छूटता। सर्पगण शिवजी के आभूषण हैं। उनके अनुचर हैं, अमृत-स्रव चन्द्रमा के समीप सदा रहते हैं। चन्द्रमा भगवान् भोलेनाथ के मस्तक के तिलक हैं तो सर्प उनके मुकुट हैं। इतना होने पर भी सर्पों का जो विष उगलने का स्वभाव है, वह नहीं छूटता। गौ को न कोई सिखाता है और न उसके दूध में मधुरिमा लाने का कोई यत्न करता है, उसका दुग्ध प्रकृति से ही मधुर है। जो बच्चे पूर्व संस्कारों से दुष्ट होते हैं, वे बिना सिखाये ही दुष्टता करने लगते हैं। पापों के प्रबल संस्कारों के कारण ज्यों ही वे बोलने चालने लगते हैं, त्यों ही दूसरों को दुःख देने लगते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब पुत्रेष्टि यज्ञ से सुनीथा के गर्भ रह गया, तब १० वें महीने में उनके गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह जन्म से ही क्रूरकर्मा था।"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"महाराज ! राजर्षि अङ्ग के वीर्य से स्वयं साक्षात् यज्ञ पुरुष की दी हुई खीर से उत्पन्न होने पर भी वह पुत्र क्रूरकर्मा, हिंसक तथा दुष्ट क्यों हुआ ?"

यह सुनकर मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी ! राजा के अङ्ग में जो कुछ पाप था, वह सब उनके वीर्य में आ गया, जब गर्भाधान संस्कार हुआ तो राजा निष्पाप हो गये। दूसरे उनकी रानी तो मृत्यु की पुत्री थी। मातृवंश का भी सन्तान पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, अतः सदा सत्कुलीन कन्या के ही साथ विवाह करना चाहिये। तीसरे सुनीथा को सुशङ्ख गन्धर्व मुनि का शाप भी था। इन सभी कारणों से अङ्ग का पुत्र वेन अत्यन्त ही दुष्ट हुआ। वेन कहते हैं पीड़ा को (वेनयति पीडयति इति वेनः) जो सबको पीड़ा पहुँचावे वही वेन कहलाता है।

वह सयाना होते ही हिंसा में प्रवृत्त हुआ। तीर कमान लिये

जङ्गलों में घूमा करता। जिस जीव को भी देखता, उसे ही तड़ाक से मार देता। प्राणधारियों को मारते समय तड़पते देखकर उसे बड़ी प्रसन्नता होती। कोई बालक जा रहा है उसे पास में बुलाया। उसके कण्ठ की गुठली को दबाने लगा। स्वाँस रुकने से बच्चे के प्राण छटपटाते, आँखें निकल आतीं तो वह प्रसन्न होता और अत्यन्त जोर से दबाकर उसे मार डालता। किसी के मर्म स्थानों में ऐसे घूँसे जमाता कि वह वहीं मर जाता, किसी के देखते ही ऐसा तककर तीर मारता कि वह जहाँ का तहाँ टें कर जाता। किसी को गेंद की तरह ऊपर उछाल देता वह पत्थर पर गिरकर मर जाता। किसी को अलातचक्र की भाँति १०-२० बार घुमा-घुमाकर दूर जल में फेंक देता। वह डूब कर मर जाता। इस प्रकार उसे प्राणियों को मारने में बड़ा सुख मिलता।

राजा ने जब देखा, मेरा पुत्र तो बड़ा दुष्ट है तब उन्होंने उसे बुलाकर समझाया। देख, बेटा! किसी को मारते नहीं, सबमें समान रूप से श्रीहरि निवास करते हैं, सब उनके ही रूप हैं। जैसे अपने को पीड़ा होती है, वैसे ही दूसरों को भी होती है। धर्म का मूल तो दया है। जिसके हृदय में दया है उसने स्वर्ग को जीत लिया है। बोल, कुछ आई समझ में।" वेन ने कहा—"हाँ पिताजी समझ गया।"

महाराज अङ्ग ने पूछा—"क्या समझा?"

वेन बोला—"यही समझा कि जब से आपने बकना आरम्भ किया है तब से मैं इन चीटियों के बिल की ओर बड़े ध्यान से देख रहा हूँ। आपने बात आरम्भ करी तब से अब तक १७५८१ चींटी तो इसमें से निकलीं, और घुसीं कितनी इसे भूल गया।"

यह सुनकर महाराज अङ्ग ने अपना माथा ठोका कि यह दुष्ट किसी प्रकार न समझेगा। अब क्या करें, कैसे मेरे इस दुःख

का अन्त हो। वेन के दुष्कर्मों को स्मरण करके अत्यन्त ही खिन्न रहने लगे।

एक दिन कोई महात्मा कहीं से भूले भटके चले आये महाराज अङ्ग ने उनका स्वागत्-सत्कार किया। महात्मा तो स्वभाव से ही दयालु होते हैं, पर पीड़ा को देखकर उनका नवनीत के समान हृदय द्रवित हो जाता है और अपने सदुपदेशों द्वारा उसके हटाने का शक्ति भर प्रयत्न करते हैं। महात्मा ने राजा से पूछा—"राजन्! प्रतीत होता है, आपको कोई गहरी आत्मिक वेदना है। किसी अत्यन्त चिन्ता से आप दुखी हैं। अपने दुःख का कारण आप मुझे बतावें। राजा ने कहा—"भगवन्! क्या बताऊँ, मेरे पूर्वजन्म के कोई ऐसे पाप उदय हुए हैं कि मुझे सदा मानसिक क्लेश ही बना रहता है। मेरी चिन्ता का कारण मेरा पुत्र ही है। प्रभो! मेरा यह क्रूरकर्मा कुपुत्र ऐसा दुष्ट है कि सदा सबको पीड़ा पहुँचाता रहता है। ऐसे पुत्र से तो पुत्रहीन होना हजारों गुणा श्रेष्ठ है। वे पुरुष धन्य हैं, जिनके पुत्र नहीं हैं। यदि हैं भी तो सुपुत्र हैं। कुपुत्र के कारण होने वाला दुःख अनन्त पापों का फल है। जिन्होंने पूर्वजन्मों में प्रभु की प्रेमपूर्वक पूजा न की हो उसी के यहाँ कुपुत्र का जन्म होता है। कुपुत्र के कारण अनर्थ ही-अनर्थ होते हैं।"

जिस कुल में कुपुत्र उत्पन्न हुआ उस कुल की समस्त प्रतिष्ठा धूलि में मिल जाती है। कितना भी यशस्वी कुल हो उसका यश नष्ट हो जाता है। कुपुत्र अधर्म करके स्वयं ही पाप का भागी नहीं बनता, उसके पितर भी नरकों की यातनायें सहते हैं। उसके कारण परिवार भर को अधर्म का भागी होना पड़ता है। फिर सबसे विरोध हो जाता है। नित्य ही लोग उलाहने ले-लेकर आते—"आज आपके लड़के ने यह कर दिया, उसे मार डाला,

उसे जला दिया, उसे घायल कर दिया।" सभी आकर दोष देते हैं अपना विरोध प्रकट करते हैं।

सबसे बड़ी बात यह है कि अहर्निश हृदय जलता रहता है, सदा मानसिक चिन्ता बनी बहती है। सदा सन्ताप की ज्वाला में सन्तत रहना पड़ता है। इन सब कारणों से सभी सुख-दुःख रूप में परिणित हो जाते हैं, समस्त आनन्द प्रमोद किरकिरा हो जाता है, भरा पूरा घर दुःखमय प्रतीत होने लगता है। क्या करें कहाँ जायँ।"

यह सुनकर सन्त हँस पड़े और बोले—"राजन्! अपने घर में कुपुत्र का जन्म बड़े भाग्य से होता है। वे बड़भागी पुरुष हैं, जिनके घर कुपुत्र हुआ हो।"

आश्चर्य के साथ राजा ने पूछा—"यह कैसे भगवन्! कुपुत्र का होना सौभाग्य का चिह्न कैसे?"

महात्मा बोले—"देखिये राजन्! सुपुत्र हुआ तो वह अपने शील स्वभाव से, सेवा सत्कार से, सदाचार तथा श्रेष्ठ गुणों से पिता को वश में कर लेता है। पिता सदा उसके सद्गुणों पर विमुग्ध बना रहता है, उसी के कल्याण की सोचता रहता है। उसे प्रसन्न करने को कभी घर से बाहर नहीं निकलता। दिन-दिन उसके स्नेह बन्धन में बँधता जाता है, मोह जाल में जकड़ता जाता है। उसे वैराग्य नहीं होता, घर, द्वार, कुटुम्ब परिवार में बढ़ी हुई आसक्ति कम नहीं होती। उसका परलोक बिगड़ जाता है, मरते समय पुत्र पौत्रों का ध्यान करते हुए ही मरता है। इसलिये मरकर उसी परिवार में उसे फिर पुत्र बनकर उत्पन्न होना पड़ता है। इसके विपरीत कुपुत्र सदा दुःख देता है। मन से सदा वैराग्य बना रहता है, कुटुम्ब परिवार संसारी सभी सुख फीके पड़ते हैं, ऐसे समय भी जो घर को त्यागकर नहीं जाते, उनसे बढ़कर नीच पतित और कौन होगा? सो, राजन्! कुपुत्र

इसीलिये अच्छा है कि वह संसार से वैराग्य उत्पन्न कराने का कारण होता है। इसलिये महाराज ! आप मेरी बात मानिये, इस कुटुम्ब परिवार के मोह को छोड़िये। सर्वात्म भाव से उन श्रीहरि के चरणों की शरण चाहिये आपका कल्याण होगा आप सुखी होंगे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इतना कहकर महात्मा तो चले गये। महाराज अङ्ग सोचने लगे कि अब मैं क्या करूँ।"

छप्पय

समझायो बहु भाँति किन्तु वह वेन न मान्यो।
नहिँ समझेगो दुष्ट अङ्ग यह निश्चै जान्यो॥
सोचें कुलमहँ कोढ़ भयो खल मति सुत पापी।
कैसे त्यागूँ जाहि जिही चिन्ता चित व्यापी॥
कहा करूँ कछु बस नहीं, अब तजि घर हरिकूँ भजूँ।
तजै दुष्टता जिह नहीं, सो जाकूँ हौं ही तजूँ॥

वेन की क्रूरता के कारण अङ्ग का गृहत्याग

[२५३]

एवं स निर्विण्णमना नृपो गृहात्
निशीथ उत्थाय महोदयोदयात् ।
अलब्धनिद्रोऽनुपलक्षितो नृभि-
र्हित्वा गतो वेनसुवं प्रसुप्ताम् ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १३ अ० ४७ श्लोक)

छप्पय

निबिड़ तिमिर-मय निशा नींद नृपकूँ नहिँ आई ।
करिकें इत उत बात वेनकी मात सुनाई ॥
सबकूँ सोवत छोड़ि राजघरतें नृप निकसे ।
चन्द्रहीन लखि निशा असंख्यों उडुगन विकसे ॥
जनमें जा घरमें नृपति, बड़े भये राजा भये ।
केंचुल तजि अहि जाहि ज्यों, सुत दुखते त्यों भगि गये ॥

शरीर और शरीर से सम्बन्ध रखने वाली जितनी भी वस्तुएँ हैं सबके साथ इस जीवात्मा की ऐसी आसक्ति हो जाती

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! कुपुत्र वेन के दुःख से इस प्रकार उदासीन होकर महाराज अङ्ग एक दिन आधी रात्रि के समय अपने समस्त ऐश्वर्यशाली घर को छोड़कर चले गये । उन्हें उस दिन नींद नहीं आयी थी । वेन की माता सुनीथा गाढ़ निद्रा में सो रही थी तथा और किसी दूसरे ने भी उन्हें जाते हुए नहीं देखा ।"

है कि इन्हें स्वेच्छा से कभी भी छोड़ना नहीं चाहता। घर की ईंट-ईंट में मोह हो जाता है, बेकाम की भी वस्तुएँ पड़ी हों तो उन्हें भी दूसरों को नहीं देता। पेड़ों में, पत्तों में, छोटी-छोटी चीजों में इतना अपनापन हो जाता है कि मिट्टी का घड़ा भी फूट जाय तो ऐसा लगता है मानों हमारा हृदय फूट गया। इन सब चीजों में इतना ममत्व होने पर भी अत्यन्त ज्ञानपूर्वक वैराग्य होने पर अथवा अत्यन्त शोक होने पर मनुष्य इन सबको भी तृण की तरह त्यागकर तत्काल चला जाता है। जिनको इस संसार की अनित्यता, क्षणभंगुरता को देखकर भी वैराग्य नहीं होता, जो अपमान-पर-अपमान तिरस्कार-पर-तिरस्कार सह-कर भी मोहवश, निन्दित कुत्सित जीवन बिताते हुए गृह में ही आसक्त बने रहते हैं, वे तो नर-पशु हैं। नहीं तो सम्भावित मनस्वी पुरुष तो अपयश तथा अपकीर्ति की अपेक्षा मरण को ही श्रेष्ठ समझते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! वेन बड़ा बली था, वह अब प्राप्तवयस्क हो चुका था। महाराज का इकलौता ही पुत्र था, सभी उसकी क्रूरता से डरते थे। मन्त्रीगण भी उसके सम्मुख कुछ नहीं कह सकते थे। बड़ा दुस्साहस, दुष्ट, क्रोधी और असहनशील था। इसीलिये सब उसके सामने थर-थर काँपते थे। महाराज के बहुत समझाने पर भी जब वह न माना तब उन्होंने निश्चय कर लिया कि 'अब इस घर को छोड़कर मुझे यहाँ से चला जाना ही ठीक है। इसका दमन मैं कर नहीं सकता। समझाने से यह मानेगा नहीं इसलिये 'आप मरे जग की प्रलय।' आँखों की ओट हो जाने पर कुछ भी करता रहे। यह सब शोक मोह तो मुँह देखे का है। जब दीखेगा ही नहीं, अपनी ओर से कुछ भी करता रहे। यह सोचकर वे घर से निकल भागने की सोचने लगे।

एक दिन अँधेरी रात्रि थी। राजा को चिन्ता के कारण नींद

नहीं आई। उनको यही सोच था 'कि मेरे वंश की बढ़ी हुई कीर्ति को इस वेन रूपी पाप ने सदा के लिये नष्ट कर दी। इसने हमारे कुल में ऐसा कलङ्क पैदा कर दिया कि हमारा दिगन्त व्यापी महान् यश इसने धूलि में मिला दिया। अब मैं ऐसे निन्दित तथा नास्तिक पुत्र के अधीन न हूँगा।' महारानी सुनीथा, नियमानुसार पति की सेवा सुश्रूषा करके शैया पर सो गई। महाराज ने जब देखा कि रानी गाढ़ निद्रा में निमग्न हो गई, सेवक भी सभी सो गये, तब वे धीरे से वेष बदलकर राजमहल से निकले। संयोग की बात किसी को मालूम नहीं होने पाया। वे नगर के बाहर निकलकर समीप के किसी ऐसे गुप्त स्थान में छिप गये जहाँ किसी को भी सन्देह न हो।

प्रातःकाल हुआ। महारानी ने शैया को शून्य देखा। वे हक्की-बक्की-सी रह गयीं। दास-दासी बुलाये गये, सब स्थानों में खोज-खबर की। राजा यहाँ, राजा वहाँ? किन्तु राजा अब यहाँ कहाँ? वे तो रात्रि में ही नौ दो ग्यारह हो चुके थे। शीघ्र राज्य के बूढ़े मन्त्री बुलाये गये। प्रधान सेनापति आये। चारों ओर चर भेजे गये, सवार दौड़ाये गये। मन्त्री स्वयं सैकड़ों सेवकों के साथ सन्देहास्पद स्थानों में गये पुरोहित अपने शिष्य और सेवकों को लेकर दुखी होकर रोते-रोते राजा को खोजने लगे। वे सोचते थे—"जब तक महाराज अङ्ग राजा हैं, तभी तक दरबार में हमारी कुछ पूछ है, कुछ दान-दक्षिणा का डौलडाल है। जहाँ यह दुष्ट वेन राजा हुआ कि फिर तो सूखे शङ्ख बजेंगे। चना-चवैना पर ही निर्वाह करना पड़ेगा। अतः वे बड़ी ममता से इधर-उधर महाराज का अन्वेषण करने लगे। किन्तु सब मिलकर ढूँढने पर भी राजा को वे लोग उसी प्रकार न पा सके जैसे कुयोगी अपने अन्तःकरण में स्थित परमात्मा को नहीं पा सकते। सर्वान्तर्यामी प्रभु कहीं दूर तो हैं नहीं, वे तो अत्यन्त समीप हृदय

की कोठरी में छिपे हुए हैं, लोग उन्हें ढूँढने काशी जाते हैं, प्रयाग जाते हैं, जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारिका, बदरीनाथ न जाने कहाँ-कहाँ भटकते फिरते हैं, किन्तु अपने भीतर खोज नहीं करते। इसी प्रकार राजा तो छिपे थे नगर के निकट ही, किन्तु नौकर-चाकर, मन्त्री, पुरोहित उन्हें दूर-दूर ढूँढ रहे थे। किसी ने समीप में खोज नहीं की।

जब राजा का कहीं भी पता न चला तो सेवकों ने रोते-रोते महारानी सुनीथा के समीप तथा ऋषि-मुनियों से निवेदन किया कि महाराज का कहीं भी पता नहीं चलता।

जहाँ कोई शासक न हो, राजा न हो अराजकता फैल ही जाती है। राजा के चले जाने पर चारों ओर लूटमार होने लगी, चोर डाकुओं की बन आई, दिन-दहाड़े डाके पड़ने लगे। एक दूसरे की वस्तु लेने लगे। वेन इतना क्रूर था कि कोई भी मन्त्री उसको राजा बनाने के पक्ष में नहीं था। किन्तु राजा के बिना शासन कैसे चले, किसको आज्ञा मानी जाय ?

इस प्रकार देश में अराजकता देखकर सभी ऋषि-मुनि एकत्र हुए। ऋषि मुनियों का एक विशेष अधिवेशन हुआ। विचार इस बात पर हुआ कि "महाराज अङ्ग तो चले गये, राजसिंहासन रिक्त होने से प्रजा में अनेक उपद्रव हो जाते हैं, अतः अब क्या करना चाहिये।"

सब मन्त्रियों ने मिलकर कहा—"महर्षियो ! आप चाहे जिसे राजा बना दें, किन्तु महाराज अङ्ग का यह पुत्र वेन तो सर्वथा राजसिंहासन के अयोग्य है।"

मुनियों ने कहा--"भाई ! जब राजा का पुत्र विद्यमान है तो उसके रहते हुए दूसरा राजा कैसे हो सकता है ? मनु वंश के सिंहासन पर तो उनके वंश का ही बैठेगा। महाराज उत्तानपाद, ध्रुव ये इतने धर्मात्मा और पुण्यश्लोक हुए हैं कि इनके वंश का

मूलोच्छेदन हो नहीं सकता। अतः जैसा भी है, वेन को ही राजा बना देना चाहिये।"

समस्त प्रजा ने, मन्त्रियों ने इसका विरोध किया, किन्तु मुनियों ने उनकी बात नहीं मानी।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी, जब वेन इतना दुष्ट था, तब फिर मुनियों का उसे ही राजा बनाने का आग्रह क्यों था। किसी दूसरे को राजा बना देते। जो दीप्तिमान् हो शोभायुक्त हो, वही राजा। किसी दूसरे को चुन लेते।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! ऐसा भी होता है। राजा या राजवंश के किसी पुरुष के अभाव में दूसरे को भी राजा बना देते हैं। किन्तु उस समय ऐसी ही मान्यता थी कि वंश-विच्छेद नहीं होना चाहिये। राजा के राज्यवंश का विच्छेद तो पाप से होता है। कलियुग में शुद्ध क्षत्रियवंश रहेगा ही नहीं, जिस जाति का भी जो भी बलवान् होगा वही राजा हो जायगा। यह अधर्म का चिह्न है। जब तक धर्म रहता है, तब तक कुल मर्यादा, वंशपरम्परा का पालन किया जाता है। वर्णाश्रम धर्म में सभी बातों में संस्कारों की प्रधानता मानी जाती है। क्षत्रिय वीर्य से क्षत्राणी में क्षत्रिय संस्कारों द्वारा जो पुत्र होगा, वही क्षत्रिय होगा। उसे अपनी क्षत्रियोचित वृत्ति से ही आजीविका चलानी चाहिये। इसमें कभी-कभी अपवाद भी हो जाता है, किन्तु वह नियम नहीं अपवाद है। मुनि तो धर्मात्मा थे। वर्णाश्रम की मर्यादा को स्थापित करने वाले थे। उन्होंने सोचा—'कैसा भी हो, है तो कुलीन राजवंश का ही पुत्र। अभी बालकपन की कच्ची बुद्धि है, जब राजसिंहासन पर बैठेगा, उत्तरदायित्व कन्धों पर आवेगा तब सब समझ जायगा।' यही सब सोच समझकर महारानी सुनीथा की सम्मति से मन्त्रियों के विरोध करने पर भी भृगु आदिक मुनीश्वरों ने वेन को ही भूमण्डल के राजसिंहासन पर

अभिषिक्त कर दिया। क्योंकि बिना राजा के सब लोग पशुओं के समान हो रहे थे। सम्पूर्ण संसार का कल्याण चाहने वाले मुनियों ने यही उचित समझा।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी। विष की विष ही औषधि बताई है। प्रजा में जो चोर-डाकुओं का उपद्रव हो रहा था, वह वेन के राजा होते ही सब शान्त हो गया, क्योंकि वेन बड़े उग्र स्वभाव का था।"

छप्पय

दुढ़वाये चहुँ ओर भूपको पतो न पायो।
तब ऋषि मुनि मिलि दुष्ट बेनकूँ नृपति बनायो॥
यद्यपि मन्त्री सचिव सबहिँ सहमत नहिँ जाते।
तऊ अङ्गको तनय मुनिनि नृप कीन्हों ताते॥
एक गिलोय स्वभावतें, कड़वी फिर नीमहिँ चढ़ी।
तस सिंहासन पाइकें, वैन दुष्टता अति बढ़ी॥

——

राजा बनने पर वेन की निरंकुशता

[२५४]

स आरूढनृपस्थान उन्नद्धोऽष्टविभूतिभिः ।
अवमेने महाभागान् स्तब्धः सम्भाविताः स्वतः ॥
न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित् ।
इति न्यवारयद्धर्मं भेरीघोषेण सर्वशः ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १४ अ० ४, ६ श्लोक)

छप्पय

फिरै निरंकुश भयो करे अपमान सबनिको ।
माने वेद न यज्ञ करे पूजन न सुरनिको ॥
ड्योढ़ी दई पिटाय यज्ञ मख दान करो मति ।
मैं ई इन्द्र, कुबेर, वरुण, यम, रुद्र, बृहस्पति ॥
मोइ छाँड़ि जे औरकूँ, जप तप करिकें भजिङ्गे ।
समझो मेरे खड्गतें, प्रान तुरत ते तजिङ्गे ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! वेन राजसिंहासन पर बैठते ही आठों लोकपालों की विभूति को पाकर अत्यन्त ही उन्मत्त हो गया । वह अपने आपको ही श्रेष्ठ समझकर उद्धततापूर्वक महाभाग ऋषियों का भी तिरस्कार करने लगा । उसने अपने राज्य में डंके की चोट से यह घोषणा करा दी कि "मेरे राज्य में कोई भी द्विजातीय कभी भी किसी भी प्रकार का न यज्ञ करें, न दान दें, न हवन आदि करें ।" इस प्रकार उसने सब धर्मों को बन्द करा दिया ।"

शरीर को ही सब कुछ समझकर, ईश्वर की सत्ता न मानना, किसी को नमन न करना, मैं मेरी में ही फँसे रहना, इसी का नाम नास्तिकता है। इस नश्वर शरीर से पृथक् आत्मा है, उसी अचिन्त्य शक्ति की सदा शरण ग्रहण करते रहना, हृदय, वाणी और शरीर से उन्हें निरन्तर नमो नमः, नमो नमः करके नमन करते रहना, सब कुछ उन्हीं का समझना इसी का नाम आस्तिकता है। आस्तिकता के विपरीत भाव को नास्तिकता कहते हैं, 'मम मम' यही नास्तिकता है। 'न मम न मम'—नमो नमः नमो नमः' यही आस्तिकता है। संसार के विषय सुख जन्य पदार्थ प्रारब्ध कर्मानुसार नास्तिकों को प्राप्त हो जाते हैं और आस्तिक भी संसारी वस्तुओं के अभाव में दुखी देखे गये हैं, किन्तु मानसिक शान्ति विषयी नास्तिकों को कभी प्राप्त नहीं हो सकती। इसके विपरीत धनहीन आस्तिकों पर संसारी सामग्रियाँ न रहने पर भी उन्हें मानसिक सन्तोष देखा गया है। अतः सुख-दुःख का सम्बन्ध वस्तुओं से होकर मन से है तो भगवान् को प्रणाम करने में ही है। जो ऐश्वर्य के मद में भरकर ऐसा नहीं करते अन्त में उनकी दुर्गति होती ही है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब वेन राजसिंहासन पर बैठा तो सबसे पहिले तो उसने मन्त्रियों की खबर ली। बूढ़े प्रधान मन्त्री को बुलाया। पूछा—"तुम प्रातःकाल शीघ्र क्यों नहीं आते ?" मन्त्री ने कहा—"देव ! मैं सन्ध्या वन्दन, पूजा-पाठ से निवृत्त होकर ही आता हूँ।"

वेन ने पूछा—"तुम किसकी पूजा करते हो ?"

प्रधान मन्त्री ने कहा—"प्रभो ! परमात्मा की पूजा करता हूँ।"

वेन ने गर्व के साथ पूछा—"परमात्मा कौन है ? कहाँ रहता है ?"

मन्त्री तो चक्कर में पड़े। इसे क्या उत्तर दें, फिर भी नम्रता के साथ बोले—"महाराज ! परमात्मा इस सम्पूर्ण चराचर जगत् के स्वामी हैं, वे सर्वत्र रहते हैं।',

गरजकर वेन ने कहा—"सबके स्वामी तो हम हैं, हम ही सबके ईश्वर हैं। हमसे बड़ा ईश्वर कौन है बताओ ?"

नम्रता के साथ बूढ़े मन्त्री ने कहा—"हाँ, आप तो सबके ईश्वर हैं ही किन्तु परमात्मा तो सभी के ईश्वर सबसे बड़े हैं।"

वेन ने कड़ककर पूछा—"हमारा भी क्या कोई ईश्वर है ? हमसे भी कोई बड़ा है क्या ?"

बूढ़े मन्त्री ने सरलता के साथ कहा—"जब वह सबका ईश्वर है तो आपका भी है।"

वेन ने गरजकर कहा—"कोई है ?"

प्रहरी ने प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहा—"देव की क्या आज्ञा है।"

क्रोध में भरकर वेन बोला—"इस बूढ़े को कारावास में बन्द करो।"

अब पुरोहितजी की बारी आई। पुरोहितजी को बुलाया। वे अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए डरते-डरते आये। ज्यों ही आसन पर बैठना चाहते थे त्यों ही डाँटकर वेन बोला—"सामने कटघरे में खड़े हो।"

बूढ़े ने मन में सोचा—"इस नये राजा ने मेरी अच्छी पूजा की। कहाँ तो मैं सबसे ऊँचे सिंहासन पर बैठता था, कहाँ ये मुझे अपराधियों के कठघरे में खड़ा करता है।" क्या करते खड़े हो गये। तब वेन ने पूछा—"तुम रोज इतना घी क्यों फूंका करते हो ?"

बूढ़े पुरोहित बोले—"महाराज ! सदा से राजगृह में हवन, यज्ञ, अग्निहोत्र होते रहते हैं, इसीलिये मैं घृतादि की आहुति देता हूँ।"

वेन बोला—"किसके लिये आहुति देते हो ?"

बूढ़े पुरोहित बोले—"महाराज ! देवताओं के लिये आहुतियाँ देता हूँ।"

वेन अवहेलना के स्वर में बोला—"कौन देवता है ?"

पुरोहित ने कहा—"महाराज ! इन्द्र हैं, वरुण हैं, कुवेर हैं, यम हैं, एकादश रुद्र हैं, अष्ट वसु हैं, ४९ मरुत हैं, १२ आदित्य हैं, और भी सब देवता हैं। इन सबकी तुष्टि के लिये नित्य अग्निहोत्र आदि होते हैं।"

वेन ने गरजकर कहा—"मेरे पिता के सामने जो पोल चलती थी, वह अब नहीं चलेगी। वे तो बुद्धिहीन थे, बल वीर्य रहित थे, सब देवताओं के बाबा गुरु तो हम हैं। तुम्हें जो कुछ हलुआ, मालपुआ, खीर जो हवन करनी हो हमारे मुख में करो। और सब देवताओं की आहुतियाँ बन्द करो। बोलो स्वीकार है ?"

सटपटाते हुए पुरोहितजी ने कहा—"महाराज ! यह आप कैसी धर्म विरुद्ध बातें कर रहे हैं ?"

अपनी बात पर बल देते हुए वेन बोला—"हमारा यही धर्म है, हम ही देवता हैं, हम ही ईश्वर हैं, हम ही सब यज्ञों के भोक्ता हैं, हमें ही बलि दो, हमारा ही पूजन करो। जो ऐसा करेगा वह तो हमारे यहाँ रहेगा। जो ऐसा न करेगा उसे हम अपने सेवक यमराज के दरबार में भेज देंगे। बोलो—यह हमारे मुख में हवन करोगे या तुम्हारी बदली कर दें।"

डरकर रुक-रुककर बूढ़े पुरोहित ने कहा—"महाराज ! मुझसे तो यह कार्य होगा नहीं।"

वेन ने कहा—"वधिक ! इस बूढ़े पुरोहित को इसके पुराने यजमान के समीप शूली द्वारा भिजवा दो।"

यह सुनते ही बूढ़े पुरोहित को शूली पर चढ़ा दिया। अब तो सबके मुख फक्क पड़ गये। अब वेन जिससे भी पूछता वही मन्त्री

कहता—"महाराज ! आप ही ईश्वर हैं, आप ही परमात्मा हैं। हम सब आपका ही भजन करेंगे।" जो इस प्रकार कहता उसे तो अपने राज दरबार में रहने देता, जो तनिक भी चीं-चपड़ करता, उसे ही यमराज के दरबार में पधारने का प्रवेश पत्र प्रदान कर देता। इस प्रकार पहिले उसने अपने प्रधान-प्रधान कर्मचारियों और पदाधिकारियों पर आतङ्क जमाया।

जब वे सब अपने अनुकूल हो गये, तब वेन ने कहा—"हम दिग्विजय करने निकलेंगे। सम्पूर्ण सेना हमारे साथ चले।" तुरन्त उसकी आज्ञा का पालन किया गया। उसका सुवर्णमण्डित विजय-ध्वज रथ सजाया गया। अब तो वह निरंकुश हाथी के समान मदोन्मत्त मृगेन्द्र की भाँति चारों ओर अपने धनुष की टङ्कार करता हुआ घूमने लगा।

कहीं ऋषियों को यज्ञ करते देखता तो उनके पास जाकर पूछता—"इन्द्राय स्वाहा, के माने क्या ?"

ऋषि कहते—"स्वर्ग के जो देवता इन्द्र हैं, उनके लिये अग्नि द्वारा हम यह हवनीय भाग पहुँचाते हैं। स्वाहा अग्नि की पत्नी है। इसलिये हम स्वाहा कहकर देवताओं को अग्नि द्वारा आहुति देते हैं।"

वेन कहता—"इन्द्र हम हैं, कुवेर हम हैं, वरुण हम हैं, यज्ञ-पुरुष हम हैं। अग्नि में मत जलाओ, हमारे मुँह में डालो। हमारी तोंद को बढ़ाओ। हमें ही माल खिलाओ। यज्ञीय पात्रों को तोड़ दो। इन तिल, जौ, चावलों को भूनकर हलुआ बनाओ। वेदों को फेंक दो। सब एक हैं। सबके स्वामी हम हैं। हमारी आराधना करो। हमें पूजो।" ऋषि मुनि घबड़ा जाते और हाँ कहकर गोल-मोल उत्तर दे देते।

किसी को दान करते देखता तो कहता—"इन सण्डे-मुसण्डे बेकार ब्राह्मणों को क्यों दान देते हो ? जो देना हो हमें दो, कोष

को बढ़ाओ। कर में वृद्धि करो, द्रव्य का व्यर्थ अपव्यय मत करो।"

किसी को जप करते देखता तो पूछता—"क्या सटर-सटर माला सटका रहे हो, किस मन्त्र का जप कर रहे हो ?"

कोई कहता मैं एकाक्षर, द्वयक्षर, चतुरक्षर, षडक्षर, अष्टाक्षर, द्वादशाक्षर, अष्टादशाक्षर आदि मन्त्रों का जप कर रहा हूँ। कोई गायत्री मन्त्र को बताता, कोई प्रणव बताता। सबको सुनकर वह कहता—"ये सब मन्त्र पुराने हो गये। इन्हें छोड़ो अब परिवर्तन संशोधन का समय है। सब लोग द्वयक्षर—"वेन" इसी का जप करो। जो इस मन्त्र का जप करेगा, उसे तत्काल सिद्धि मिलेगी। जो स्वर्गीय देवताओं का यज्ञ करेगा उन्हें खड्ग के भाग से उन्हीं के पास बलात्कार पहुँचा दिया जायगा। क्या कहते, लोग उसकी बात मान जाते। कोई आपत्ति करता उसका सिर तत्काल धड़ से पृथक् कर दिया जाता। इस प्रकार उसने सर्वत्र यज्ञ, दान, जप, तप, अग्निहोत्र आदि सभी वैदिक कर्मों को बन्द करा दिया। वह अपनी सेना के आगे-आगे बड़ा भारी पर्वत के समान हाथी रखता। उस पर बड़ा भारी नगाड़ा रखा रहता। उसमें सुवर्ण के दण्डे चोट से मार सर्वत्र घोषणा करता। "सावधान ! सावधान ! कोई मत करना, कोई दान मत करना। कोई यज्ञ अग्निहोत्र मत करना। कोई पूजा, पाठ, धर्म कर्म मत करना। ईश्वर को कोई मत मानना। जो मानेगा उसका सिर धड़ से पृथक् कर दिया जायगा।"

इस प्रकार जब उसने समस्त पृथ्वी-मण्डल पर से यज्ञ-याग बन्द करा दिये, देवताओं के भाग बन्द हो गये, तब तो सर्वत्र अशान्ति छा गई। ऋषि मुनियों ने सङ्गठन किया। चारों ओर इस आज्ञा के विरुद्ध सभायें होने लगीं, विरोध की तैयारियाँ करने का उपक्रम होने लगा। समस्त ऋषि-मुनियों ने मिलकर एक

धर्मरक्षिणी सभा का विराट अधिवेशन किया। बड़ी देर तक विचार होता रहा। अध्यक्ष ने कहा—"देखो, भाई! क्या करें वेन को राजा बनाकर भृगु आदि महर्षियों ने भूल की।"

इस पर एक मुनि बोले—"साधारण भूल नहीं की बहुत बड़ी भूल की। मैं तो वहाँ उपस्थित ही था। उसे राजा बनाने के सभी विरुद्ध थे। मन्त्री, पुरोहित, अमात्य तथा बड़े अधिकारियों ने इसका विरोध भी किया था, किन्तु इन मुनियों ने माना ही नहीं। उसे इतना विरोध होने पर भी राजा बना दिया। उसी का यह परिणाम है। आज वह ऐसे अत्याचार, पापाचार और कदाचार कर रहा है।"

इस पर एक बूढ़े से बहुत गम्भीर मुनि बोले—"भाई! देखो, बुद्धिमान, परोपकारी पुरुष अपनी बुद्धि से तो वही कार्य करते हैं, जिससे सभी लोगों का कल्याण हो। किन्तु पीछे उससे दूसरा अनर्थ हो जाय तो यह दैवेच्छा। राजा के न रहने से सम्पूर्ण देश में अराजकता फैल जाती है। अराजक देश में धर्म, कर्म, यज्ञ, अनुष्ठान कुछ हो नहीं सकते। अतः बुद्धिमान् पुरुष शक्ति भर प्रजा को राजा से शून्य नहीं होने देते। उस वेन को राजा इसीलिये बनाया था कि प्रजा चोर डाकुओं की पीड़ा से बचे, किन्तु यह तो स्वयं राजा होकर पाप करता है। जहाँ पाप होता है, वहाँ चोर-डाकू अधर्म से स्वार्थ साधने वाले बढ़ जाते हैं। इसलिये अब तो प्रजाओं का दोनों ओर से मरण है। इधर राजा कष्ट दे रहा है उधर चोर-डाकू लूट-मार कर रहे हैं। इनकी तो वही दशा हुई जो दो पत्नियों वाले पुरुष की होती है। एक तो उसका हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचती है, दूसरी अपनी ओर। वह बिचारा दोनों के बीच में पिसता है। चक्की के दो पाटों के बीच में पड़े अन्न की तरह, दोनों ओर से जलती लकड़ी के बीच में बैठे जन्तु की तरह, प्रजा दुखित हो रही है। अब इस बात पर

वाद-विवाद करना तो छोड़ो कि इसे राजा क्यों बनाया था, अब तो सोचना यह है कि किस प्रकार इसके अनाचारों से मुक्ति प्राप्त हो।"

इस पर एक मुनि बोले—"राजा कैसा भी हो, देवता बुद्धि से उसका पालन ही करना चाहिये।"

इस पर एक अत्यन्त तेजस्वी मुनि बोले—"आप कैसी बातें कर रहे हैं। धर्मशास्त्र का यह मत कभी नहीं है कि अन्यायी राजा की सभी आज्ञाओं का बिना ननु नच किये पालन किया जाय। इस समय इसका पालन करना इसी प्रकार होगा जैसे शरीर के कपड़ों में छिपे सर्प का दूध पिलाकर पालन किया जाय। अथवा विष मिले सुन्दर स्वादिष्ट लड्डुओं को पदार्थों के नष्ट होने के लोभ से खाया जाय। अथवा शरीर में हुए जहरबाद वाले अङ्ग की लोभवश रक्षा की जाय। महानुभावो! धर्मशास्त्र के वचनों का यथार्थ अभिप्राय समझना चाहिये। राजा वही माननीय और पूजनीय होता है, जो धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करता हो। यह मृत्यु की पुत्री सुनीथा का सुत स्वभाव से ही दुष्ट है। हम सबने सोचा सिंहासनारूढ़ होते ही स्यात् सुधर जाय, किन्तु जन्म का स्वभाव दुरतिक्रम होता है। इसलिये इसके विरुद्ध कुछ कार्यवाही करनी चाहिये।"

किन्हीं वृद्ध मुनि ने कहा—"अजी, सब लोग चलकर उसे समझा-बुझा दो। बात को व्यर्थ ही बढ़ाना बुद्धिमानी का काम नहीं है।"

इतना सुनते ही दूसरे एक चढ़ती अवस्था के मुनि बोले—"आप तो महाराज सबको अपना-सा ही समझते हैं। 'लात का देव बात से नहीं मानता।' समझाने-बुझाने का इस पर कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा। हमारी तो सम्मति है इस पर चढ़ाई कर देनी चाहिये।"

इस पर ढलती अवस्था के एक गम्भीर के से मुनि बोले—"मुनिवर ! मुझे आप क्षमा करेंगे। अभी आपका नूतन रक्त है। इसीलिये आप ऐसी उत्तेजना-पूर्ण बातें कह रहे हैं। किसी राज्य-शासन को परिवर्तित करने के तीन ही उपाय हैं। या तो दूसरा बलवान् राजा चढ़ाई करके उसे परास्त करके शासन परिवर्तित कर सकता है या सामादि उपायों से, अथवा सङ्गठन करके शासक को इतना विवश कर दे कि वह शासन करने में समर्थ ही न हो सके। बिना प्रजा के सहयोग के कोई शासक शासन नहीं कर सकता। तीसरा एक यह भी उपाय है कि दैवी शक्ति का आश्रय लेकर उसे अपने प्रभाव से नष्ट कर दे। हम लोग क्षत्रिय नहीं जो अस्त्र-शस्त्र लेकर चढ़ाई करें। दूसरा ऐसा कोई राजा नहीं जिसे इसके विरुद्ध उभाड़कर इसे नष्ट करा दें। प्रजा में इतना साहस नहीं जो इसके विरुद्ध कार्य कर सके। अतः अब तीसरा ही उपाय है। आप इतने बड़े-बड़े ऋषि, महर्षि, त्यागी, तपस्वी हैं। आप चाहें तो इसे अपनी दृष्टि मात्र से भस्म कर सकते हैं। अतः मेरी तो सम्मति है कि इस दुष्ट को शाप देकर भस्मसात् कर देना चाहिये।"

इस पर एक बहुत वृद्ध से मुनि बोले—"अरे, भैया ! शापा-शापी क्यों करते हो, जो काम सीधे से शान्तिपूर्वक निकल जाय उसके लिये बहुत बखेड़ा बढ़ाना बुद्धिमानी नहीं। शाप आदि देने से तप नष्ट होता है। मुनियों के लिये यह कार्य बड़ा निन्दित है।"

इस पर वे ही गम्भीर तेजस्वी महात्मा बोले—"भगवन् ! हम आपकी बात मानते हैं, शाप से तप नष्ट होता है। किन्तु अब आपके तप की कौन-सी वृद्धि हो रही है ? आप स्वेच्छा से यज्ञ नहीं कर सकते। दान नहीं दे सकते, शुभ कार्य नहीं कर सकते। गृहस्थी धूमधाम से विवाह यज्ञोपवीत आदि शुभ संस्कार नहीं कर सकते। ब्राह्मण भोजन नहीं करा सकते, जप तप कुछ

भी तो नहीं हो सकता। यदि ऐसी ही दशा रही तो हम सबका तप, तेज नष्ट हो जायगा, वर्णाश्रम धर्म का लोप हो जायगा। लोग स्वेच्छाचारी होकर नास्तिक और पाखण्डी हो जायँगे। वैदिक धर्म कर्म लुप्त हो जायँगे, अतः जहाँ सर्वस्व जाता हो, वहाँ बुद्धिमानों को आधा भी देकर उसकी रक्षा करनी चाहिये। थोड़ी अपनी हानि से बहुतों को लाभ होता हो तो लोक के कल्याणार्थ परोपकारी पुरुषों को अपनी हानि भी सह लेनी चाहिये। इसलिये हमारी सम्मति तो यह है कि उस पर दया दिखाना व्यर्थ है। उस पर अपनी दैवी शक्ति का प्रयोग करना ही चाहिये।"

इस सब वाद-विवाद को सुनकर उस सभा के अध्यक्ष बोले—"मेरी सम्मति तो यह है कि पहिले हम लोगों में से कुछ विशिष्ट व्यक्ति चलकर उसे सभी ऊँची-नीची बातें समझावें। उसके कुल-परम्परागत सदाचार को बतावें। धर्म का मर्म बताकर धर्म से होने वाले लाभों का वर्णन करें। प्रजा की ओर से उस पर दबाव डालें। नम्र शब्दों में किन्तु निर्भीक होकर उसे उसका कर्तव्य बतावें। यदि वह मान जाय तब तो बहुत ही उत्तम है। जो गुड़ देने से मर जाय तो उसे विष क्यों दिया जाय। यदि वह न माने तब निश्चय ही अपनी दैवी शक्ति का प्रयोग किया जाय।"

अध्यक्ष वृद्ध मुनि की बात सुनकर सभी एक स्वर में साधु-साधु कहने लगे।

सभी चिल्लाने लगे—"यह उपाय अत्युत्तम है, ऐसा ही किया जाय, अभी चला जाय।" सबं सम्मति से ऐसा ही निश्चय हुआ।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! उन्हीं वृद्ध मुनि को आगे करके बहुत से ऋषि-मुनि महाराज वेन को समझाने के लिये उसकी राजधानी की ओर चल दिये।"

छप्पय

जब नास्तिकता करत वैन घूमे भुवि माहीं ।
तब सब ऋषि मुनि विप्र देवगण अति घबराईं ॥
कहें परस्पर—दुष्ट देहि अति सबनि यन्त्रणा ।
धर्म कर्म कस होहि करांहि मिलि विप्र मन्त्रणा ॥
सबकी सम्मति जिह भई, पहिले चलि समझाइँगे ।
जो नहिँ माने मन्द मति, तो फिरि ताहि बताइँगे ॥

मुनियों का जाकर वेन को समझाना

[२५५]

नृपवर्य निबोधैतद्यत्ते विज्ञापयाम भोः ।
आयुः श्रीबलकीर्तीनां तव तात विवर्धनम् ॥
धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः ।
लोकान्विशोकान्वितरत्यथानन्त्यमसञ्जिनाम् ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १४ अ० १४, १५ श्लोक)

छप्पय

यों निश्चय करि गये भूप ढिँग मुनि उपकारी ।
बोले वचन विनीत, वेन सुनि विनय हमारी ॥
च्यौं करबाये बन्द यज्ञ, व्रत, दान, धर्म वर ।
च्यौं मेंटी मर्यादा वेदकी अतिशय सुखकर ॥
राजन् ! तुमरे राज्यमहँ, होहिँ यज्ञ जो विधि सहित ।
तो होवें सबई सुखी, प्रजा व्याधि पीड़ा रहित ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! सब मुनियों ने राजा वेन से जाकर कहा—"हे नृपवर्य ! हम कुछ आपसे निवेदन करना चाहते हैं, उस पर कृपया आप ध्यान दें । हमारा कथन आपकी आयु, श्री, वल और यश की वृद्धि के ही निमित्त होगा । जो निष्काम पुरुष मन, वाणी, शरीर तथा बुद्धि के द्वारा जो आचरण करते हैं, उनका वह धर्माचरण शोकरहित लोक तथा अनन्त मोक्ष पद को प्रदान करने वाला होता है ।"

जिनका सभी श्रेणी के पुरुष स्वागत्-सत्कार करते हैं, जो सर्वत्र सभी स्थानों में माने और पूजे जाते हैं, उन्हें यदि किसी अभिमानी पुरुष से स्वयं मिलने जाना पड़ता है तो मरण के समान कष्ट होता है। अभिमानी तो अपनी ऐंठ में उच्चासन पर डटा रहता है, ये सर्वत्र सत्कार पाने वाले पुरुष उसके सामने अत्यन्त सङ्कोच के साथ जाते हैं, तब वह अपनी मूँछों पर और भी ताव देने लगता है। अपनी हेकड़ी को और भी जताता है। सम्माननीय पुरुषों को देखते ही उसका अभिमान अत्यधिक बढ़ जाता है तथा उसी के आवेश में वह उनका अपमान करता है। उनसे अकड़कर बातें करता है। भगवान् ऐसे पुरुषों का कभी स्वप्न में भी मुख न दिखावें। किन्तु इस संसार में कड़वे मीठे सभी अनुभव प्रारब्धानुसार करने ही पड़ते हैं। संभावित पुरुषों को इससे दुःखद, कड़वा और लज्जाजनक दूसरा कोई भी प्रसङ्ग नहीं आता, फिर भी मनस्वी पुरुष समयानुसार इसे भी सहते हैं। परोपकार प्रवृत्ति वालों को पग-पग पर ऐसे अपमानों को सहना पड़ता है, उन्हें यह तिरस्कार-जन्य विष का घूँट हँसते-हँसते पान करना पड़ता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! सर्वसम्मति से सभी सम्माननीय ऋषि मुनि एकत्र होकर वेन की राजसभा में गये। उस समय वेन राजसिंहासन पर बैठा हुआ मन्त्रियों से पूछ रहा था, कोई यज्ञ तो नहीं करता? कोई इन बेकार ब्राह्मणों को दान तो नहीं देता? कोई हाहू-हाहू करके वेद पाठ करके लोगों के कानों को कष्ट तो नहीं देता?"

मन्त्री हाथ जोड़े हुए कह रहे थे—"देव! और सबने तो आपके प्रबल पराक्रम के सम्मुख सिर झुका दिया है, किन्तु कुछ ऋषि-मुनि अभी....."

बीच में ही बात काटकर वेन बोला—"हाँ, मुझे पता है, ये

जटा दाढ़ी वाले बड़े बदमाश होते हैं। इन सबकी दाढ़ियाँ नुचवा दो। इन सबको रुण्ड-मुण्ड करदो। इनके यज्ञपात्र छीन लो। सभी सामग्रियों को अग्नि में जला दो। ऐसा विधान बना दो कि बिना पूछे कोई भी अग्नि में घृत तथा अन्नादि न जलावे। सबके आहार की संख्या कर दो। इतना ही अन्न मिलेगा। जिससे कोई ब्राह्मण भोजन, श्राद्ध, उत्सव अतिथि पूजन न कर सके। उतना अन्न दो जिससे सबका पेट ही न भरे। वस्त्रों पर भी प्रतिबन्ध लगा दो। घृत, शर्करा सब नाप तोल कर मिले। हत्या की जड़ ये बाबाजी और निठल्ले ब्राह्मण ही हैं। इन्हीं ने किसी को ऊँचा बना रखा है, किसी को नीचा। ऐसी-ऐसी ठग विद्या की पुस्तकें बना रखी हैं कि पैदा होने से लेकर मरने तक इनके ही पेट को भरते रहो। इनके ही मांस को बढ़ाते रहो। बच्चा पैदा हुआ, ब्राह्मणों को दान दो, नान्दीमुख श्राद्ध करो, यह करो, वह करो। फिर छठी करो, नामकरण संस्कार करो, बाल बनवाओ तो भी चूड़ाकर्म में इनकी ही तोंद में डालो। आज कर्णछेदन है, कल अक्षरारम्भ है, फिर यज्ञोपवीत है, समावर्तन है, विवाह आया। घर भर में खलबली मच जाती है, ग्राम भर में कुहराम मच जाता है, सभी उद्विग्न हो जाते हैं। वर्षों पहिले से सामग्री जुटाते हैं। यह ला वह ला। चलियो रे, लइयो रे, मेरे विवाह है, लगन है, पीरी चिट्ठी है। अरे विवाह हुआ कि कोई आफत आई। सप्ताहों पहिले से धूम-धाम नौबत तुरई से कोलाहल। जब देखो तब पुरोहितजी थाली में अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, कलाया, सुपारी और दक्षिणा लिये पूजन को तैयार हैं। तेल चढ़े तो पूजन, कङ्कण बँधे तो पूजन, छींक ले तो पूजन, करवट बदलो तो पूजन ये सब पैदा करने के उपाय हैं। ऐसा लोगों को बाँध रखा है कि पुरोहित के बिना कुछ न हो, घर में बच्चे भूखों मर रहे हैं, अन्न के बिना चिल्ला रहे हैं, किन्तु पुरोहितजी को गरमागरम पूड़ियाँ चाहिये। साग नहीं है

अचार नहीं है। मीठे के बिना ब्राह्मण सन्तुष्ट नहीं। जब तक हलुए में से घृत न टपके तब तक पितरों की तृप्ति नहीं। कैसा पाखण्ड रच रखा है। खिला-पिलाकर दक्षिणा न दो तो सब खिलाया-पिलाया व्यर्थ गया। कैसी-कैसी युक्तियाँ लगा रखी हैं। भोले-भाले लोगों के ठगने को कैसे-कैसे श्लोक गढ़ रखे हैं। इन ब्राह्मणों का पेट क्या है समुद्र की वाडवाग्नि है। कभी यह भरता ही नहीं। घर में मुरदा मरा पड़ा है, ब्राह्मणों को भोजन कराओ। महापात्र जब तक श्राद्ध न करादे शव को फूँक नहीं सकते। अब साल भर तक आज पहिले दिन का पिण्ड, आज दशाहश्राद्ध आज तेरहीं आज मासिक, श्राद्ध, वर्षी, शैयादान जाने क्या-क्या पाखण्ड रचे रखे हैं। कभी देवता के नाम से, कभी पितरों के नाम से, कभी यक्ष गन्धर्वों के नाम से सब का ठेका इन बामनों ने ही ले रखा है। इनके पेट में पहुँच गया मानों सबको मिल गया। हम तो यही करेंगे। चिट्ठियाँ भेजने को नौकर न रखा करेंगे। सब चिट्ठियाँ इन मोटी-मोटी तोंद वाले ब्राह्मणों के पेट में डाल दिया करेंगे। यदि जिनके नाम की चिट्ठी है, इनके पेट में डालने से पहुँच जायगी तब तो हमारे पैसे बचेंगे। न पहुँची तो इनके पेटों को फड़वा दिया करेंगे।"

इस प्रकार की न जाने कितनी ऊटपटाङ्ग बातें बक रहा था। उसी समय दुर्भाग्यवश ऋषि मुनि भी पहुँच गये। दूर से ही देखा बड़े-बड़े जटाधारी, दाढ़ी मूछ वाले, स्थूलकाय ऋषि महर्षि, ब्राह्मण राजसभा की ही ओर चले आ रहे हैं। वे सब उँगलियों में कुशाओं की पवित्रियाँ पहिने हुए थे। हाथों में कुशाओं का मूंठा ब्रह्मदण्ड लिये हुए थे। बड़े सङ्कोच के सहित वे सिंहासन के समीप आये। देखते ही वेन का सम्पूर्ण शरीर क्रोध और द्वेष से जलने लगा। उसने सोचा—"ये ही धूर्त मेरे विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे हैं। मेरे चरों ने आकर बताया है, ये ही मेरी आज्ञा

के विरुद्ध संगठन करके सभा कर रहे थे। व्याख्यान दे रहे हैं। अच्छी बात है, आज इन सबकों समझूँगा। मुनियों को देखते ही लाल-पीली आँखे करके और अकड़ के साथ सिंहासन पर बैठ गया। ऋषियों का न तो स्वागत्-सत्कार ही किया और न उनसे बैठने को ही कहा।

बेचारे ऋषि-मुनि खड़े-के-खड़े ही रह गये। वेन के इस व्यवहार से जो चढ़ती अवस्था के ऋषिकुमार थे, उनका रक्त उबलने लगा। किन्तु वृद्ध पुरुष तो बड़े गम्भीर होते हैं, वे तो समय की गति देखते-देखते गम्भीर हो जाते हैं, आवेश में आकर सहसा किसी कार्य को नहीं कर डालते, अतः इतना अनुचित व्यवहार होने पर भी वे सहसा उत्तेजित नहीं हुए। क्रोध तो पहिले से ही उन्हें वेन के ऊपर आ रहा था, इसकी इस अशिष्टता से वह और भी बढ़ गया, किन्तु उसे उन्होंने गूढ़ रखा। क्रोध को छिपाकर ऊपर से हँसते हुए वे मुनि बड़े ही विनीत वचनों से उससे बोले—"हे राज-राजेश्वर! हम आपसे कुछ निवेदन करने आये हैं।"

अकड़कर वक्र दृष्टि से देखता हुआ अवहेलना के स्वर में वेन बोला—"कहो, क्या कहना चाहते हो?"

वृद्ध मुनि बोले—"राजन्! हम जो कहें उसे आप कृपा करके ध्यानपूर्वक सुनें। हम आपके हित की ही बात कहेंगे। हमारी बात मानने से आपकी, आयु की, बल की, यश और शौर्य की वृद्धि होगी।"

कड़ककर वेन बोला—"बहुत भूमिका की आवश्यकता नहीं। अपना प्रयोजन कहो।"

वृद्धि मुनि निर्भीक होकर बोले—"देखिये, राजन्! आपका जन्म पवित्र मनुवंश में हुआ है, आपके ही पूर्वज उत्तानपाद, ध्रुव उत्कल तथा आपके पिता महाराज अङ्ग बड़े ही धर्मात्मा यशस्वी हुए हैं। संसार में सभी असार है, एकमात्र धर्म ही सार वस्तु है।

आपके पूर्वजों ने जिस धर्म का आचरण किया है, वह धर्मलोप नहीं होना चाहिये। आपको अपने कुलागत सदाचार का सदा सर्वदा समाहित चित्त से पालन करना चाहिये। महाराज ! मनुष्य मन, वाणी, देह तथा बुद्धि द्वारा जो जिस धर्म का श्रीकृष्ण प्रीत्यर्थ निष्काम भाव से आचरण करते हैं वह अनासक्त बुद्धि से किया हुआ निष्काम धर्म अक्षय लोकों को तथा मुक्ति को भी देने वाला होता है। जिस धर्म के द्वारा आज तक प्रजा का कल्याण हुआ है और आगे भी उसी के द्वारा होगा, वह धर्म आपके द्वारा नष्ट न हो। आप अपने पूर्वजों के पद चिह्नों का अनुसरण करें। प्राचीन पुण्य पथ से स्खलित न हों। जो पूर्वजों के पुनीत पथ से भ्रष्ट हो जाता है, वह अवश्य ही ऐश्वर्यहीन होकर दुखी होता है। अतः आप सनातन राजधर्म का अनुसरण करें। उसकी अवहेलना न करें।"

वेन ने कहा—"सनातन राजधर्म नाम की कोई चिड़िया है या कोई दो चार पैर वाला अन्य जन्तु ?"

धैर्य के साथ वृद्ध मुनि बोले—"राजन् ! सनातन राजधर्म न तो चिड़िया है न कोई इन चर्म चक्षुओं से दिखाई देने वाला दो चार पैर का जन्तु। वह तो एक सर्वव्यापक देव है। दुष्ट मन्त्री, दुष्ट राजकर्मचारी, अधर्म अधिकारियों तथा चोर-डाकुओं से प्रजा की रक्षा करना, न्यायानुकूल प्रजा से षष्ठांश कर लेकर उसके पुण्य कार्यों में सहयोग देना यही सनातन राजधर्म है। इस धर्म का पालन करने वाला राजा इस लोक तथा परलोक दोनों में सुख पाता है। जिस धर्म प्रधान राजा के राज्य में वर्णाश्रम धर्म का, युगों के विशिष्ट-विशिष्ट धर्मों का तत्तद्युगों के अनुरूप तत्तद् यज्ञों द्वारा यज्ञपुरुष का यजन किया जाता है, उसी धार्मिक राजा पर भूतभावन भगवान् प्रसन्न होते हैं ?"

वेन ने अवहेलना[1] के स्वर में पूछा—"भूत-भावन भगवान् कौन है ? कहाँ रहता है ?"

मुनि बोले—"राजन् ! वे सर्वात्मा हैं, सब स्थानों में सब प्राणियों के भीतर-बाहर वे निवास करते हैं। वे सबके ईश हैं।"

वेन ने कड़ककर कहा—"क्या सम्पूर्ण जगत् का एकमात्र जगदीश्वर मैं नहीं हूँ ?"

वृद्ध मुनि ने कहा—"महाराज ! आप अवश्य जगदीश्वर हैं, किन्तु वे श्रीहरि तो जगदीश्वरों के भी ईश्वर हैं। यदि वे प्रसन्न हो जायँ तो संसार में यह लौकिक तथा पारलौकिक कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है।"

वेन बोला—"तुम लोगों को मेरी प्रसन्नता अप्रसन्नता का महत्व अभी मालूम नहीं है।"

मुनि बोले—"हाँ राजन् ! हमें मालूम है। आप चाहे जो कर सकते हैं। किन्तु जिनके पादपद्मों में इन्द्रादिक देवता अपने मणि-मय किरीटों के द्वारा प्रणाम करते हैं, अञ्जलि बाँधे सभी लोक-पाल सदा खड़े रहते हैं और अत्यन्त आदर के सहित अनेकों भेंट समर्पण करते हैं, उन श्रीहरि के सम्मुख आप कुछ भी नही हैं। वे वेद-स्वरूप श्रीहरि द्रव्यमय तथा तपोमय हैं। सम्पूर्ण लोक और लोकपाल उन्हीं के अंशभूत हैं, वे यज्ञस्वरूप हैं, अपने-अपने उत्कर्ष के निमित्त सभी उनकी नाना यज्ञों द्वारा उपासना करते हैं। उन भगवान् की न आपको बराबरी करनी चाहिये, न उनकी आज्ञा के विरुद्ध कोई आचरण करना चाहिये। आपके राज्य में बड़े-बड़े यज्ञ हों। सर्वत्र ब्राह्मणों का सम्मान हो, श्रीहरि के उद्देश्य से अनेक उत्सव हों। भगवान् के अङ्ग-भूत सभी देवताओं का पूजन हो। चारों ओर दान, धर्म, पुण्य और पावन कार्य हो सुन्दर-सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थों द्वारा वेदपाठी ब्राह्मण सन्तुष्ट किये जायँ, ऐसा यदि आप करेंगे तो देवता आपको प्रसन्न होकर अनेक दुर्लभ

वर देंगे, यदि आप उनका तिरस्कार और अपमान करेंगे, तब फिर गोविन्दाय नमो नमः हो जायगा। ये बड़ी लाल-लाल आँखें फटी-की-फटी ही रह जायँगी।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! मुनियों की ऊपर से नम्र दिखाई देने वाली किन्तु भीतर से दृढ़ता और साहस से भरी बातें सुनकर वेन आग बबूला हो गया उसके रोम-रोम से क्रोध की चिनगारियाँ निकलने लगी। वह क्रोध करके ऋषियों की ओर थोड़ी देर तक देखता-का-देखता ही रह गया। कुछ बोला नहीं।"

छप्पय

हैं मनुको अति विमल वंश ध्रुव जनमें जामें।
भये भूप उत्तानपाद हरिपद रत तामें॥
वर्णाश्रम शुभ धर्म करो पालन तुम ताकूँ।
उज्ज्वल कुलकी कीर्ति करो कलुषित च्यौं वाकूँ॥
वेन कोपकी अगिनिमहँ, मुनिगण-वच घृत सम भये।
बोल्यो करिकें कोप अति, ये आये मम गुरु नये॥

—०—

वेन द्वारा मुनियों का अपमान और उसकी अपमृत्यु

[२५६]

बालिशा बत यूयं वा अधर्मे धर्ममानिनः ।
ये वृत्तिद पतिं हित्वा जारं पतिमुपासते ॥
अवजानन्त्यमी मूढा नृपरूपिणमीश्वरम् ।
नानुविन्दन्ति ते भद्रमिह लोके परत्र च ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १४ अ० २३, २४ श्लोक)

छप्पय

फिरि यों बोल्यो वेन बड़े मूरख हो तुम सब ।
मैं ई सबको ईश मोई पूजो तुम मिलि अब ॥
मोइ छोड़िकें और ईश कोई मति जानो ।
मूरखताकूँ तजो, महेश्वर मोकूँ मानो ॥
जो अब बक बक करी तो, लुङ्गो जीभ निकारिकें ।
जीवित चाम उतारिकें, भुस दुङ्गो भरवाइकें ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! मुनियों की बातें सुनकर वेन बोला—"तुम लोग बड़े मूर्ख हो रे ! तुम सब अधर्म को धर्म माने बैठे हो । तुम तो उसी कुलटा स्त्री की भाँति हो जो अपने भरण पोषण करने वाले पति को छोड़कर जार पति की उपासना करती हैं । जो तुम्हारे जैसे मूर्ख पुरुष मुझ राजा रूप परमेश्वर का अनादर करते हैं, वे न इस लोक में सुखी होते हैं न परलोक में ।"

अहङ्कारी को उपदेश देना, उपदेश की दुर्दशा करना है। जो जानते नहीं भोले-भाले हैं, उन्हें समझाया जा सकता है। जिनमें बुद्धि है विवेक है। किन्तु किसी बात में उन्हें सन्देह है, उनकी समझ में नहीं आतीं, उन्हें और भी सरलता से युक्तियों द्वारा शास्त्रीय प्रमाणों तथा बड़े-बड़े सन्त-महात्मा तथा महापुरुषों के जोवन सम्बन्धी उदाहरण देकर समझाया जा सकता है, किन्तु जो वास्तव में हैं तो मूर्ख, परन्तु अपने को माने बैठे हैं बड़ा पण्डित ऐसे अभिमानी ज्ञानलवदुर्विदग्ध पुरुषों को समझाने में कोई समर्थ नहीं। अभिमान तथा अहङ्कार के कारण वे सबको तुच्छ समझते हैं। जो उनकी हाँ-में-हाँ मिलाता रहे, वह तो ठीक जिसने उनके विरुद्ध तनिक भी चींचपड़ की वही उनका शत्रु। उसे नष्ट करने, सताने के लिये वे प्राणपन से प्रबल प्रयत्न करते हैं। अतः ऐसे अधकचरे अभिमानी मूर्खों को तो कोई महाशक्तिशाली अपनी प्रबल शक्ति द्वारा ही अन्याय से रोक सकता है। दूसरे साधारण लोगों की शक्ति के तो वह बाहर हो जाता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब ऋषि-मुनियों ने आकर अत्यन्त विनीत किन्तु दृढ़ता के स्वर में वेन को समझाया, उसे उसका कर्तव्य बताया, धर्म का निष्कण्टक सुखकर मार्ग उसे सुझाया, तब उसे बड़ा क्रोध आया। उसने दाँत पीसते हुए, टेढ़ी भौं करके लाल-लाल क्रोध भरे नेत्रों से उन्हें देखते हुए गरज-कर बोला—"तुम सब लोग बड़े मूर्ख हो रे ! जो मेरे सम्मुख आकर ऐसी धृष्टता करते हो ? तुम लोगों का इतना साहस ? ऐसी हेकड़ी ? अब तुम्हारी पोल नहीं चलेगी मेरे पूर्वज तो सब-के-सब मूर्ख थे, जो तुम सब बेकारों को इस प्रकार सिर पर चढ़ा रखा था। तुम्हें ही सर्वेसर्वा बना रखा था। तुमने भी उन्हें भली प्रकार काठ का उल्लू बना रखा था। जब कहो, तब वे पानी पीवें, जब मुहूर्त बताओ तब आगे पैर रखें। मेरे सामने तुम्हारी दाल

नहीं गलेगी। अब वह अन्धेर न चलेगा। अब मारे कोड़ों के तुम्हारी चमड़ी उधेड़ ली जायगी। तुमने समझ क्या रखा है। तुम मुझे क्या समझते हो। ईश्वर तो मैं हूँ, तुम सबका स्वामी तो मैं ही हूँ मूर्खो ! अरे, तुम तो उस व्यभिचारिणी जारिणी दुष्टा स्त्री के समान हो, जो अपने प्रत्यक्ष पति को छोड़कर जार पति की सेवा करती है। पति का अपमान करने वाली वह कुलटा स्त्री गर्हित है, निन्दित है। उसी प्रकार तुम भी निन्दित हो। छिः-छिः तुम लोगों को लज्जा नहीं आती। चले हैं हमें सिखाने के लिये। बकरे की-सी दाढ़ी हिला-हिलाकर तुम सबकी दाढ़ियों को नुचवाऊँगा। जीवित ही खाल खिंचवाऊँगा आधा जमीन में गड़वाकर कुत्ते से नुचवाऊँगा, तुम्हारी खालों में भूसा भरवा-भरवाकर राजसभा के द्वार पर लटकवाऊँगा, जिससे फिर कोई ऐसा दुस्साहस न कर सके। अपने ईश्वर मुझ राजा का अपमान करके तुम्हें न इस लोक में सुख मिल सकता है न परलोक में, क्या तुम लोग मुझे नरपति, जगदीश्वर, सब लोकों का स्वामी नहीं मानते।"

वेन की ऐसी क्रोध भरी बातें सुनकर ऋषि-मुनि तो चुप हो गये। पीछे खड़े हुए युवक ऋषि बड़े कुपित हुए। आगे के बड़े बूढ़े मुनियों ने हाथ के संकेत से उन्हें रोका। इस पर वेन फिर बोला—"तुम लोग बोलते क्यों नहीं ? मेरी बात का उत्तर क्यों नहीं देते ? क्या तुम लोग मुझे ईश्वर नहीं मानते ?"

इस पर वृद्धमुनि शान्ति के साथ बोले—"देव ! यह हम कब कहते हैं आप ईश्वर नहीं। आप नरपति हैं, लोकों के ईश्वर हैं, राजा हैं। फिर भी भगवान् यज्ञपति आपसे भी श्रेष्ठ हैं। आपके भी पूजनीय हैं आप·····

बीच में वेन घुड़ककर बोले—"कौन यज्ञपुरुष ? अरे, मूर्खो ! यज्ञपुरुष तो मैं ही हूँ। व्यभिचारिणी स्त्री की भाँति पाप मत करो। मुझे ही अपना पति मानकर जार रूप उस यज्ञपुरुष को

भूल जाओ। ईश्वर परमात्मा मैं ही हूँ, मेरे ही निमित्त यज्ञ करो, मेरे ही नाम का जप करो, मेरी ही पूजा करो, मुझे ही भेंट दो, मेरे ही मुख में आहुति दो। क्यों तुम्हारी बुद्धि नष्ट हो गयी है। मुझ प्रत्यक्ष देव को छोड़कर तुम कल्पित देव के पीछे क्यों पड़े हो ?"

गम्भीर होकर वृद्ध मुनि बोले—"तब, आप ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन त्रिदेवों को नहीं मानते हैं ?"

वेन बोला—"मानते क्यों नहीं, हम तो मानते हैं। तुम सब मूर्ख ही नहीं मानते। मैं सृजन करता हूँ इसलिये ब्रह्मा हूँ, समस्त प्रजा का पालन करता हूँ, अतः विष्णु हूँ, तुम जैसे दुष्टों का सदा संहार करता रहता हूँ अतः रुद्र हूँ। तीनों देव मेरे शरीर में वास करते हैं।"

सिर हिलाते हुए उपेक्षा के स्वर में मुनि बोले—"तब आप अन्य देवों को लोकपालों को भी न मानते होंगे ?"

वेन बोला—"तुम लोगों के मस्तिष्क में गोबर भर रहा है या कीचड़ भरी है ? अरे पूर्व दिशा का मैं पालन करता हूँ अतः मैं इन्द्र हूँ, दक्षिण का पालन करता हूँ अतः यमराज हूँ, उत्तर का पालन करता हूँ, अतः कुबेर हूँ, पश्चिम का पालन करने से मैं ही वरुण कहाता हूँ, वायव्य दिशा का पालन करने से वायु, ईशान के पालन करने से ईश, नैऋत्य का अधिपति होने से निऋ'ति तथा आग्नेय दिशा का स्वामी होने से अग्नि हूँ, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी सबकी शक्ति मुझमें है। इसीलिये राजा को सर्व देवमय कहा है। राजा जो चाहे सो कर सकता है। जिसे चाहे दण्ड दे सकता है। प्रसन्न होने पर रङ्क को राव बना सकता है। अप्रसन्न होने पर कुबेर को भिखारी कर सकता है। ब्राह्मण देवताओ ! तुम अपनी कुशल चाहते हो तो मेरी बात मानो, इस मूर्खता और मत्सरता को छोड़ दो। प्राचीन प्रथाओं को तोड़ दो, आस्तिकता के प्रवाह

को मेरी ओर मोड़ दो। मुझे ही सब कुछ मानोगे तो तुम्हारा कल्याण है, नहीं तो तुम सबकी हड्डी-पसली पृथक्-पृथक् करके कोल्हू में पिलवा दूँगा। तुम्हें अपने नाना का अतिथि बनाकर उसके पास भिजवा दूँगा। समझे कुछ ? बोलो, क्या कहते हो ?"

युवक मुनि दाँत पीसने लगे। वृद्धों के ओठ फड़कने लगे। सबकी आँखों के डोरे लाल हो गये। वृद्ध मुनि फिर गरजकर बोले—"तुम वेद को भी नहीं मानते....."

वेन बोला—"मेरी वाणी ही वेद है। मेरी आज्ञा ही वेद वाक्य है। यदि तुम मुझे बलि न दोगे, मेरा पूजन न करोगे तब तुम इस पृथ्वी पर नहीं रह सकते। अब बहुत हो गया। अधिक बक-बक करने की आवश्यकता नहीं। एक बात का उत्तर दो। मुझे ईश्वर मानते हो या और किसी ईश्वर की आशा लगाये हो। यदि और की आशा है तो मैं अभी तुम्हारी खबर लेता हूँ। देखें वह तुम्हारा कल्पित ईश्वर तुम्हारी रक्षा करता है या नहीं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! वेन की यह बात असह्य हो गयी। सभी मुनि अपने को रोकने में असमर्थ हो गये। सभी ने एक स्वर से कहना आरम्भ कर दिया—"इस दुष्ट को मार डालो, इस विपरीत बुद्धि वाले मूर्ख को अब इस उच्चासन पर न रहने दो। इस भ्रष्टमङ्गल नीच को सिंहासन से नीचे पटक दो। यह महापापी स्वभाव से ही दुष्ट है पाप ही इसका परम इष्ट है। यह सनातन वैदिक धर्म से भ्रष्ट है। यह स्वपच और चाण्डालों से भी निकृष्ट है। वेद और ब्राह्मणों की निन्दा करने वाला यह पापी अत्यन्त ही अशिष्ट है। यदि यह इसी प्रकार जीता रहा तो यह सम्पूर्ण संसार को भस्म कर डालेगा। सबको मार डालेगा। यह अब राजसिंहासन के योग्य नहीं। जिन श्रीहरि की कृपा से ही इतना ऐश्वर्य प्राप्त है उन्हीं भगवान् की निन्दा करता है। इसका आज अन्त कर देना चाहिये।" इस प्रकार सबके क्रुद्ध

होने पर वह घबड़ा गया। आगे के मुनियों ने पिछले उत्तेजित हुए मुनियों को रोककर, वेन की ओर क्रोध भरी दृष्टि से देखकर एक बार 'हुँ' ऐसा शब्द किया। 'हुँ, शब्द के होते ही वेन सिंहासन से मरकर उसी प्रकार नीचे गिर पड़ा, जैसे केले का वृक्ष पहाड़ से कटकर गिर पड़ता है।

इस पर कुछ मुनि बोले—"जा बेटा! अपनी ननसाल में आनन्द से रह। अपने नाना मृत्यु के घर में आतिथ्य ग्रहण कर, वहाँ नानी के हाथ की पूड़ियाँ उड़ा।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! वह दुष्ट मरा हुआ तो पहिले ही से था। वेद और ब्राह्मणों की निन्दा करने के कारण वह हतप्राय तो था ही केवल ब्राह्मणों की हुङ्कार तो निमित्त मात्र थी। इस प्रकार वेन को अपने शाप से ननसाल का रास्ता दिखाकर सभी ऋषि-मुनि उसी दशा में मृतक छोड़कर अपने-अपने आश्रमों को चले गये।"

छप्पय

सुनत कुपित मुनि भये पुकारें मारो मारो।
राजासनतें खेंचि दुष्टकूं वेगि उतारो॥
पाइ परम ऐश्वर्य नीच अतिशय इतरावे।
करे वेद अपमान आज वाको फल पावे॥
यों कहि भरिकें क्रोधमें, सब मुनि मिलि हुँकृत करी।
तुरत वेनकी देह तहँ, प्रानहीन ह्वैकें गिरी॥

अराजकता निवारण के निमित्त ब्राह्मणों का उद्योग

[२५७]

ब्राह्मणः समदृक्शान्तो दीनानां समुपेक्षकः ।
स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात्पयो यथा ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १४ अ०, ४१ श्लोक)

छप्पय

छाड़ि ताहि निरजीव गये निज-निज आश्रम मुनि ।
मातु सुनीथा दुखित भई निज पुत्र मृत्यु सुनि ॥
राज्यमाँहि बहु भई अराजकता अति भारी ।
लूट पाट व्यभिचार कलह चोरी अरु जारी ॥
मुनिनि देश देख्यो दुखी, दया हिये उमड़ी प्रबल ।
होहि तहाँ तप कस जहाँ, निरबलकूँ ताड़े सबल ॥

देश के वातावरण का सभी सहृदय पुरुषों पर प्रभाव पड़ता है। प्रभाव तो जड़ चेतन सभी पर पड़ता, किन्तु जड़ उसे व्यक्त नहीं कर सकते, उसके प्रतिकार के लिये प्रयत्न नहीं कर सकते। सहृदय पुरुष देश की दुर्दशा देखकर दुखी होते हैं। उत्थान तथा

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! ब्राह्मण चाहें शान्त स्वभाव का कैसा भी तपस्वी क्यों न हो, यदि वह अपने सम्मुख दुखी हुए दीनों की सामर्थ्य रहने पर उपेक्षा करता है तो उसका ब्रह्मतेज उसी प्रकार बह जाता है जैसे फूटे घड़े का पानी बह जाता है।"

उन्नति देखकर हर्षित होते हैं। जब तक हमें शरीर का भान है, सुख-दुःख का अनुभव है, तब तक प्रभु-प्रीत्यर्थ परोपकार और दया करनी चाहिये। यह कह देना सब अपने प्रारब्ध का भोग, भोग रहे हैं, यह अकर्मण्यता का चिह्न है। प्रारब्ध का भोग, भोग रहे हैं, यह ठीक है। किन्तु तुमको किसी के प्रारब्ध को मेटने की कामना से नहीं, अपनी दयावृत्ति को बढ़ाने के लिये, सबमें वे ही सर्वान्तर्यामी विराजमान हैं, इस धारणा को दृढ़ करने के निमित्त प्रभु-प्रीत्यर्थ परोपकार करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करते, दीनों पर दया नहीं दर्शाते, अपने सामने होते हुए अन्याय का सामर्थ्य होने पर भी विरोध नहीं करते, उसके प्रतीकार के लिये शक्ति भर प्रयत्न नहीं करते उनके जप, तप, नियम, व्रत, संयम सभी व्यर्थ हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब सभी ऋषि अपनी हुङ्कार से वेन को निर्जीव करके उसे वहीं मरा-का-मरा छोड़कर चले गये, तब सम्पूर्ण राजसभा में सन्नाटा छा गया। सभी हृदय से प्रसन्न थे कि अच्छा हुआ यह कंटक कट गया, किन्तु फिर भी शिष्टाचार के लिये शोक प्रदर्शित करने लगे। शीघ्रता के साथ यह समाचार सुनीथा देवी को अन्तःपुर में दिया गया। ब्राह्मणों की हुङ्कार के द्वारा अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनते ही माता दौड़ी आयी। अपने दुरात्मा मृतक पुत्र को देखकर उसकी छाती फटने लगी। सभी ने कहा—"अब जो हो गया सो हो गया, अब इनका दाहसंस्कार करना चाहिये।"

यह सुनकर महारानी सुनीथा ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"नहीं, हमारे पुत्र का दाहसंस्कार न होगा। जिन मुनियों ने कोप करके मारा है, वे ही कभी कृपा करके इसे जिला भी सकते है। जो मार सकते हैं, वे ही प्यार भी कर सकते हैं। मेरे बच्चे की तुम सब मिलकर रक्षा करो। इसे मृतक मत मानो। समझो यह

सो रहा है। महारानी की आज्ञा का सभी ने पालन किया। बहुत बड़े कड़ाह में तेल भरकर उसमें अनेक औषधियाँ सुगन्धित द्रव्य डालकर वेन के शव को सुरक्षित रखा। सुनीथा उसकी बड़े यत्न से जीवित की भाँति देख-रेख और सेवा शुश्रूषा करने लगी।

इधर वेन के मरते ही चोर डाकुओं की बन आयी। राज्य-सिंहासन खाली हो जाने से चारों ओर अराजकता बढ़ गयी। जिधर देखो उधर ही लूटपाट मच रही है, मारधाड़ हो रही है। राज्य के कर्मचारी मनमानी कर रहे हैं। सबसे घूस लेने लगे हैं। रक्षक चोरों से मिलकर डाका डला रहे हैं। बलवान् निर्बलों के धन को, स्त्रियों को बलात्कार हर कर ले जा रहे हैं। न किसी को किसी का भय है, न सङ्कोच। सभी मनमानी कर रहे हैं। धर्म-कर्म से हीन तो सब पहिले ही से थे। अब तक वे धर्म बुद्धि से पापों से निवृत्त नहीं थे। भय के कारण अवसर न मिलने से वे चोरी जारी से दूर थे। अब अवसर पाते ही वे वित्तापहरण, व्यभिचार आदि करने लगे, दूसरों के धन, पशु तथा स्त्रियों को हरने लगे।

एक समय सभी ऋषि मुनि भगवती सरस्वती के निर्मल जल में स्नान करके अग्निहोत्र आदि से निवृत्त होकर परस्पर में कृष्ण कथा कर रहे थे। उस समय उन्हें अनेक अराजकता-सूचक उत्पात दिखाई दिये। इससे मुनियों के मन में चिन्ता हुई कहीं राजा के बिना देश में फिर अराजकता तो नहीं फैल गई। इतने में ही वे क्या देखते हैं, बहुत से डाकू हाथी घोड़ों पर चढ़े हुए लोगों का धन लिये हुए भागे जा रहे हैं। उनके साथ में अनेक स्त्रियाँ हैं जिन्हें वे बलात्कार पकड़ लाये हैं। वे रो रही हैं, चिल्ला रही हैं, सर्वत्र हाहाकार मचा है। इस करुण क्रन्दन को सुनकर मुनियों का हृदय करुणा के कारण द्रवीभूत हो उठा। उनमें से किसी ने आँसू बहाते हुए कहा—"अरे, यह तो बड़ा अनर्थ हुआ, हम लोगों को इसका कुछ उपाय करना चाहिये।"

इस पर एक बोले—"अजी अब हर समय उपाय ही करते रहोगे या कुछ जप, तप, पूजा, पाठ भी करोगे। यह तो संसार है, कोई मरता है, कोई जीता है, कोई दुखी है, कोई किसी को प्यार करता है, कोई सन्तान पैदा करता है, कोई वध कर देता है। सभी कर्मों के अधीन हैं। जीव ही जीवों का जीवन है। अतः इन झंझटों को छोड़ो, राम-राम करो। कोई राजा हो हमें क्या हमें राज्य तो करना नहीं, भजन करना है, सो चुपचाप बैठकर भजन करो। अब इन्हीं सब झंझटों में फँस गये तब तो भजन पूजन हो चुका।"

इसके सुनते ही बड़े सौम्य गम्भीर मुनि बोले—"आपने भजन का अर्थ क्या समझा है ? भगवान् की आराधना, भगवान् अग्नि में ही बैठे हों दूसरे स्थान में न हों सो बात तो है नहीं अखिलात्मा श्रीहरि तो सब में समान रूप से व्याप्त हैं। कोमल दयावान हृदय में उनका प्रादुर्भाव होता है। जैसे सूर्य सर्वत्र समान भाव से प्रकाश करते हैं। किन्तु काँच में उनका प्रकाश स्पष्ट दिखायी देता है। पाषाण में तम के आधिक्य से वे कम प्रकाशित होते हैं। अतः जो लोक के ताप से तपकर जीवों पर दया दर्शाता है, श्रीहरि उसके हृदय में शीघ्र ही आ जाते हैं। दीन-दुखियों पर दया करना यह उस अखिलात्मा अच्युत की परमाराधना है।"

अपने सम्मुख कोई कष्ट पा रहा हो, मर रहा हो और उसे निवारण की जिसमें शक्ति हो, शक्ति रहने पर भी जो उसकी उपेक्षा कर देता है, उसका जप, तप, संयम, नियम, तीर्थ, व्रत, यज्ञ, अनुष्ठान, योग, समाधि, मौन, वेदाध्ययन, कथावार्ता तथा अन्य भी शुभ कर्म व्यर्थ हैं। इसलिये हम लोगों को मिलकर इस विषय में उद्योग करना चाहिये। प्रजा को दस्युओं के चंगुल से निकालना चाहिये। यह अराजकता शान्त हो। इसके लिये

पूर्णरीत्या प्रयत्न करना चाहिये। शीघ्र ही किसी को राजा बना देना चाहिये।"

इस पर एक दूसरे मुनि बोले—"आप राजा किसे बनावेंगे? वेन तो अपने पाप के कारण मारा ही गया। महाराज अङ्ग के वही एक पुत्र था। राजपुत्र के अभाव में धर्मपूर्वक अन्य राजा कैसे बन सकता है? कलियुग हो तब तो चाहे जो राजा बन जाय। किन्तु वर्णाश्रम धर्म के पालन के लिये तो यह अत्यावश्यक है कि विशुद्ध राजवंश का क्षत्रिय ही नरपति हो सके।"

इस पर उन सबके कुलपति ने कहा—"देखो, भाई! वेन अपने पाप से मारा गया। यह सत्य बात है, किन्तु महाराज स्वायम्भुव मनु का पुण्य साधारण नहीं है। वंश तो पाप के कारण नष्ट होता है। जिस वंश में पाप बढ़ जाता है, उस कुल का नाश हो जाता है अथवा उसकी कुलागत विशुद्ध परम्परा नष्ट होकर सङ्करता आ जाती है। महाराज मनु के पुण्य का इतना प्रभाव अभी तक है कि अङ्ग का वंश नष्ट न होना चाहिये। राजर्षि अङ्ग की वंशपरम्परा निर्मूल न होनी चाहिये। क्योंकि इस वंश में उत्तानपाद ध्रुव आदि बड़े-बड़े भगवत्परायण राजर्षि हो चुके हैं।"

भगवान् कुलपति की यह बात सुनकर सबने एक स्वर से कहा—"हाँ, हाँ, अवश्य इस विषय में उद्योग होना चाहिये। त्रिकालज्ञ मुनियों के तप में, उनके अमोघ मन्त्रों में अतुलनीय सामर्थ्य है, वे जो चाहें कर सकते हैं। जीवित को मृतक बना सकते हैं, मृतक को जीवित कर सकते हैं।"

तब सब मुनियों ने कहा—"तब राजधानी में चलें और इस विषय में जो उचित हो वह करें।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! ऐसा निश्चय करके सभी ऋषि महर्षि अपने-अपने डण्ड कमण्डलु लिये राजधानी की ओर

चलने लगे। ऋषियों के समूह को राजधानी की ओर जाते देखकर सबको विश्वास हो गया कि अब जगत् का कल्याण होगा। जिस विषय में त्यागी, विरागी, तपस्वी उद्योग करते हैं, वह अवश्य ही सफल होता है।"

छप्पय

मुनि समदरसी शान्त शान्ति हित सब पुर आये।
देखि वेनको मृतकदेह अति हिय हरषाये॥
वेन जांघकूँ युक्ति सहित मुनि मथिबे लागे।
निकस्यो कारो पुरुष निरखि मुनि नहिँ अनुरागे॥
वेन देह कल्मष कट्यो, पृथक् देहतें ह्वै गयो।
मुनिनि निषीद कह्यो बचन, सो निषाद संज्ञक भयो॥

वेन अङ्गमन्थन से भगवान् पृथु का प्रादुर्भाव

[२५८]

अयं तु प्रथमो राज्ञां पुमान्प्रथयिता यशः ।
पृथुर्नाम महाराजो भविष्यति पृथुश्रवाः ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १५ अ० ४ श्लोक)

छप्पय

मथीं भुजा फिरि युगल भये लक्ष्मीनारायन ।
पृथुल कीर्ति पृथु पुरुष, अर्चि कमला जगपावन ॥
तेज, वीर्य्य, बल, प्रभा सुलक्षण लखि मुनि हरषें ।
गावें गुन गन्धर्व सुमन सुर नभतें बरषें ॥
दक्षिण करतें पृथु भये, बायेंतें लक्ष्मी भई ।
प्रभु प्रकटे सुनि प्रजाकी, चिन्ता सबरी नसि गई ॥

मन्त्रों में बड़ी शक्ति है, तप का बड़ा प्रभाव है। कलियुगी पुरुष इन बातों का कभी विश्वास कर ही नहीं सकते। पूर्व के युगों में मन्त्र सजीव तथा अमोघ होते थे। महर्षि वैशम्पायन के कहने से उनके शिष्य याज्ञवल्क्य ने जो उनसे वेदमन्त्र पढ़े थे, वे सब उगल दिये। वे सब तेजस्वी मन्त्र सजीव होकर घूमने लगे।

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! वेन के बाहुओं के मथने से जो दिव्य पुरुष उत्पन्न हुआ उसे देखकर ऋषि-मुनि बोले—"यह समस्त राजाओं में प्रथम पुरुष होगा जो अपने यश का विस्तार करेगा। यह परम यशस्वी राजा 'पृथु' के नाम से विख्यात होगा।"

तब गुरु की आज्ञा से तीतर बनकर उनके शिष्यों ने उन्हें ग्रहण किया। जिससे तैत्तरेयी शाखा प्रसिद्ध हुई। अब इन बातों पर कौन विश्वास करेगा ? ऋषियों ने महाराज को एक पुत्र प्राप्ति के लिये यज्ञ कराया था। एक कोरे घड़े में मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके जल रखा था कि प्रातःकाल रानी को इस मन्त्रपूत जल को पिलायेंगे, इसे पीते ही उसके गर्भ रह जायगा। संयोग की बात राजा को रात्रि में प्यास लगी। बिना जाने उस मन्त्रपूत सम्पूर्ण जल को राजा पी गये। अब क्या हो सकता था। मन्त्रों की शक्ति तो व्यर्थ जाने वाली नहीं थी। राजा को ही गर्भ धारण करना पड़ा और उन्हीं की कुक्षि को फाड़कर जगत् प्रसिद्ध महाराज मान्धाता हुए। विश्वामित्रजी ने अपने तप के प्रभाव से नये स्वर्ग की ही रचना कर दी। सारांश यही है कि तपस्वी, सदाचारी, वेदज्ञ ऋषि मुनि सब कुछ कर सकते हैं उनके लिये भगवत्कृपा से कोई बात असम्भव नहीं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी। अराजकता को निवारण करने के निमित्त तथा मनुवंश को अविच्छिन्न बनाये रखने के निमित्त वे सभी मुनि मिलकर महाराज अङ्ग की पत्नी वेन की जननी–सुनीथा देवी के समीप गये। वहाँ जाकर मुनियों ने पूछा—"देवि ! अब क्या किया जाय ? आपका वंश नष्ट नहीं होना चाहिये।"

हाथ जोड़कर सुनीथा देवी ने विनीत भाव से कहा—"महर्षियो ! आप में सभी शक्तियाँ हैं, आप जो चाहें कर सकते हैं। इसी आशा से मैंने अपने पुत्र का मृतक शरीर सुरक्षित रख छोड़ा है।"

प्रसन्न होकर मुनियों ने कहा—"अच्छा अभी वेन का शरीर है, तब तो काम बन गया। उसी को मथकर हम पुत्र उत्पन्न करा देंगे। तुम उसे यहाँ लाओ।"

मुनियों की आज्ञा का पालन किया गया। वेन का मृत शरीर उनके सामने लाकर उपस्थित किया गया। उनमें से एक वृद्ध से अनुभवी मुनि बोले—"देखो! इस वेन के शरीर में पाप भी है, मनुवंश का विशुद्ध रक्त भी है। ऐसा यत्न करो कि पाप-पाप अलग हो जाय, तब इस विशुद्ध हुए अङ्ग से विशुद्ध राजा उत्पन्न करना।"

यह सुनकर दूसरे मुनि बोले—"इसके शरीर में तो ये सब दूध-पानी की भाँति एक हो गये हैं, उन्हें पृथक् कैसे किया जा सकता है?"

इस पर वे ही मुनि बोले—"देखो, सुवर्ण में कान्ति भी है, मल भी है। अग्नि से तपाकर उसे पिघलाकर मैल पृथक् कर दिया जाता है, जब मलहीन सुवर्ण हो जाय, तब उसके कटक कुण्डल आदि जो चाहें बना सकते हैं। वे बड़े सुन्दर दिखाई देंगे प्रभावान होंगे। मल को पृथक् किये बिना वैसे ही बना लो तो वे प्रभाहीन मैले और बुरे दिखाई देंगे। इस शरीर में जङ्घाओं के बीच का भाग बहुत अशुद्ध होता है। क्योंकि मलद्वार से सटा रहने से वहीं मृत्यु का वास है। अतः पहिले इसी अङ्ग का मन्थन करो। जैसे समुद्र मन्थन के समय सर्व प्रथम विष निकला था, उसके सब कल्मष निकल जाने पर ही अमृत की उत्पत्ति हुई थी, उसी प्रकार नाना के वंश की जो इसकी हिंसावृत्ति है। वह निकलनी चाहिये।"

वृद्ध मुनियों की आज्ञा से एक विशेष प्रकार की मथनी रई बनाई गई। उससे पहिले उसकी जङ्घाओं को मथा। उसमें से सर्व प्रथम एक काले रङ्ग का पुरुष उत्पन्न हुआ। वह ठिगना था। बाल उसके कड़े, खड़े हुए तथा ताम्र वर्ण के, नाक चिपटी थी। हाथ और पैर अपेक्षाकृत छोटे थे, ठोढ़ी बड़ी थी, आँखें गोल और

लाल-लाल थीं। वह कुछ दीनता के स्वर में ऋषियों से बोला—"महर्षियो ! मैं क्या करूँ ?"

ऋषियों ने सोचा—"यह समस्त प्रजा का राजा बनने योग्य तो है नहीं। अतः वे बोले—"निषीद, निषीद अर्थात् महाशयजी ! आप विराज जाइये।"

इस पर वह बोला—"महाराज ! मैं बैठता तो हूँ, किन्तु मेरा नाम बताइये, काम बताइये, धाम बताइये और रहने का ठाम बताइये।"

इस पर एक मुनि हँसते हुए बोले—"देखिये, उत्पन्न होते ही हमने आपसे कहा—निषीद निषीद इसलिये आपकी संज्ञा निषाद होगी। आप महाराज वेन के अङ्ग से उत्पन्न हुए हैं, अतः आप वन पर्वतों के राजा होंगे, उनके कल्मष भाग से उत्पन्न हुए हैं, अतः कृष्ण वर्ण के होंगे। वन, पर्वत, नदियों के किनारे, अरण्य ये ही आपके निवास-स्थान होंगे। तीर-कमान लेकर बिना वस्त्र पहिने स्वच्छन्द घूमिये, कहीं भी आपकी रोक-टोक नहीं।"

निषादराज बोले—"महाराज ! तीर-कमान तो लिये घूमेंगे, युद्ध किनसे करें यह भी तो बता दें।"

मुनियों ने कहा—"अजी, तुम दिन भर युद्ध करो सदा युद्ध करो। वनों में, अरण्यों में जो भी सिंह, व्याघ्र, पशु, पक्षी मिल जाय उससे ही युद्ध ठान दो। बाहर न मिले, जल में मछलियों से युद्ध करो। तुम्हारा श्रीकृष्ण का-सा वर्ण है, अतः वे संसार-सागर से लोगों को पार करते हैं तुम सागर और नदियों से लोगों को पार किया करना। तुम्हारे लिये भक्षाभक्ष का भी कोई नियम नहीं। राम-राम रटते जाओ और विहार करो। कभी साक्षात् परब्रह्म परमात्मा तुम्हारे वंश के राजा से भी मैत्री करेंगे और वह उन्हें गङ्गा पार पहुँचावेगा।" इतना सुनते ही वह निषाद जङ्गल की ओर चला गया।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! उसी के वंशज पृथ्वी पर कोल, भील, गोड़, धीवर, कहार, मल्लाह, निषाद, केवट आदि अनेक नामों से विख्यात हुए। जिनमें बहुत से अरण्यों में ही बिना घर-द्वार बनाये रहते हैं। बहुत से नगरों का आश्रय लेकर कृषि आदि काम करने लगे। बहुत से नौका आदि के द्वारा अपनी आजीविका चलाते हैं।

अब जब वेन की देह विशुद्ध बन गई तो जिन हाथों के अधिष्ठातृ देव इन्द्र हैं, उन दोनों बाहुओं को मुनिगण मथने लगे। मथते-मथते दायीं बाहु से एक परम तेजस्वी पुरुष और बायीं से परम प्रभावती त्रैलोक्य सुन्दरी एक नारी उत्पन्न हुई। लक्षणों के जानने वाले मुनियों ने उनके लक्षण देखकर आश्चर्य और सम्भ्रम के स्वर में कहा—"अरे, ये तो स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं। अवतार के समस्त चिह्न इनके श्रीअङ्ग में विराजमान हैं। इस अवतार में इनकी अनपायिनी आद्या शक्ति भी साथ ही उत्पन्न हुई है, यह और भी आश्चर्य की बात है। जैसे प्रभा सदा सूर्य के साथ ही रहती है और उसी प्रकार ये लक्ष्मी देवी भी इन पुराण पुरुष का कभी साथ नहीं छोड़तीं।

किसी योनि में भी भगवान् अवतीर्ण हों ये निरन्तर उनका अनुगमन करती ही हैं। यह तो बड़े आनन्द की बात हुई। अब तो हम सब लोगों के समस्त क्लेश दूर हो जायँगे। संसार से अधर्म का लोप हो जायगा, सर्वत्र धर्म की वृद्धि होगी। यज्ञ-यागों की धूम फिर चारों ओर मच जायगी। फिर भूमण्डल स्वाहा-स्वाहा के सुन्दर शब्दों से भर जायगा। ये महायशस्वी आदि राजा पृथुलकीर्ति वाले पृथु के नाम से संसार में विख्यात होंगे, और वे समस्त वस्त्राभूषणों से अलंकृत भगवती लक्ष्मी के अंश से उत्पन्न होने वाली देवी अर्चि नाम से विख्यात होंगी।"

मुनियों के ऐसा कहते ही आकाश से पुष्पों की वर्षा होने

लगी। ब्राह्मणगण अत्यन्त उल्लास के साथ स्वर-सहित उच्च स्वर से वेद मन्त्रों का पाठ करने लगे। अप्सरायें नृत्य करने लगीं। चारों ओर शङ्ख, तुरही, मृदङ्ग, दुन्दुभी तथा और भी अनेक बाजे बजने लगे। स्वर्ग से बहुत से देवता, ऋषि, सिद्ध तथा और भी उपदेव आये। लोक पितामह ब्रह्माजी भी इन्द्रादि लोकपालों से घिरे हुए वेन-कुमार पृथु के दर्शनों के लिये पधारे। आते ही उन्होंने महाराज पृथु के हाथ, पैरों की रेखायें देखीं। उनमें कमल के दिव्य चिह्न देखकर तथा श्रीहस्त में चक्र का चिह्न देखकर चिल्ला उठे "अवश्य ही ये श्रीमन्नारायण हैं, क्योंकि रेखा से बिना मिला हुआ चक्र का चिह्न जिनके हाथ में होता है वे श्रीहरि का अंशावतार ही होता है।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! लोकपितामह जगद्गुरु भगवान् ब्रह्माजी के मुख से भी अपनी बात का समर्थन सुनकर सभी ऋषि मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनके राज्याभिषेक का उपक्रम करने लगे।"

छप्पय

विप्रवृन्द करि वेदगान हियमहँ अति हुलसें।
धेनु दुग्धकी धार बहावें सरसिज बिकसें॥
स्वर्गलोकतें सिद्ध, पितर, सुर, मुनि मिलि आवे।
भये चराचर सुखी चहूँ दिशि बजत बधावे॥
कमलासन विधि चरण कर, लखि लक्षण प्रमुदित भये।
प्रकटे प्रभु पृथु रूपमहँ, सत्यलोक यों कहि गये॥

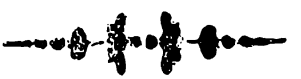

महाराज पृथु का राज्याभिषेक

[२५९]

तस्याभिषेक आरब्धो ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ।
आभिषेचनिकान्यस्मै आजह्रुः सर्वतो जनाः ॥
सरित्समुद्रा गिरयो नागा गावः खगा मृगाः ।
द्यौः क्षितिः सर्वभूतानिसमाजह्रु रुपायनम् ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १५ अ० ११, १२ श्लोक)

छप्पय

मिलिकें मुनि वेदज्ञ करन अभिषेक लगे तब ।
बाजें तुरही शङ्ख राजसी साज सजे सब ॥
आये नदी, पहाड़, पेड़, पक्षी, पशु, पयनिधि ।
असन, वसन, मणि रत्न, भेंट लाये वर बहुविधि ॥
कनक सिंहासन धनद शुभ, दयो छत्र वर वरुनने ।
वायु दये अति वर व्यजन, माला दीन्हीं धरमने ॥

धर्मात्मा के पास सब गुण स्वतः ही चले आते हैं। भाग्यशाली को याचना नहीं करनी पड़ती। सब सम्पत्ति स्वयं ही उनके

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इसके पश्चात् वेदज्ञ ब्राह्मणों ने महाराज पृथु के राज्याभिषेक का आयोजन आरम्भ किया। सभी ओर से प्राणी उनके अभिषेक की सामग्रियाँ जुटाने लगे। नदी, समुद्र, पहाड़, पेड़, पक्षी, मृग, गौ, स्वर्गलोक के, पृथ्वी लोक के जितने भी प्राणी थे सभी ने आ-आकर उन्हें उपहार अर्पण किये।"

समीप आपसे-आप आ जाती हैं। जिसने सत्य धर्म को छोड़ दिया उसके यहाँ रहने वाले भी सब गुण भाग जाते हैं। जिसने धर्म को पकड़े रखा, उसके गये हुए गुण भी लौट आते हैं। इस विषय में एक कथा है। एक बड़े धर्मात्मा राजा थे। उनके राज्य में व्यापार की बड़ी कमी थी। प्रजा के हित के निमित्त उन्होंने अपने नगर के निकट एक हाट लगवानी आरम्भ कर दी। उसमें यह नियम कर दिया कि जिस व्यापारी की जो वस्तु न बिकेगी, वह राज्य की ओर से क्रय कर ली जायगी। इस प्रलोभन से बहुत से व्यापारी आने लगे। एक बार एक आदमी लोह की एक मूर्ति लेकर बेचने आया। सब उससे उसका नाम दाम और गुण पूछते। वह बताता—"इस मूर्ति का नाम दरिद्रदेव है। इसके दाम एक लक्ष रुपये हैं। जो इसे लेगा, उसके घर की धन सम्पत्ति सब नष्ट हो जायगी।" ऐसी अशुभ मूर्ति को कौन लेने लगा। सब देखते और लौट जाते। रात्रि हुई, हाट के बन्द होने का समय आया। राजकर्मचारी पूछने आये—"किसकी कौन-कौन-सी वस्तु नहीं बिकी। पूछते-पाछते वे उस व्यक्ति के समीप भी आये। उससे दाम पूछा। उसने वही उत्तर दिया। 'ये दरिद्रदेव हैं। एक लक्ष रुपया इनका मूल्य है। जहाँ ये रहेंगे वहाँ लक्ष्मी सम्पत्ति नहीं रह सकती।' राजकर्मचारी घबड़ाये, राजा के समीप जाकर सब वृत्तान्त कहा।

महाराज ने पूछा—"क्या वह बेचने लाया था ?"

सेवकों ने कहा—"हाँ देव ? बेचने ही लाया था ?"

"तब फिर उसकी नहीं बिकी ?" महाराज ने पूछा।

"महाराज ऐसी वस्तु को कौन लेगा, जिसके लिये लाख रुपये व्यय भी हों और आते ही धन-धान्य ऐश्वर्य का नाश कर दे। वस्तु तो लाभ के लिये ली जाती है।" सेवकों ने दृढ़ता के स्वर में कहा।

महाराज ने कहा—"जब वह बेचने लाया था और नहीं बिकी तब तो तुम्हें लेनी ही चाहिये, इसमें पूछने की कौन-सी बात है।"

सेवकों ने सम्भ्रम के साथ कहा—"अन्नदाता! ऐसी वस्तु के लेने से क्या लाभ?"

महाराज ने दृढ़ता के साथ कहा—"लाभ क्या? धर्म का लाभ है, अपनी प्रतिज्ञा पूरी होगी, वही लाभ है। रुपये पैसे के लाभ को ही लाभ थोड़े ही कहते हैं। अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करना यह भी बड़ा लाभ है। तुम बिना बिचारे उसे एक लाख रुपया दे दो, उस मूर्ति को ले लो।" सेवकों ने राजा की आज्ञा का पालन किया, मूर्ति राजा के अन्तःपुर में आ गई, बेचने वाला एक लाख रुपये लेकर चला गया।

महाराज अपने भवन में सो रहे थे, आधी रात्रि के समय वे क्या देखते हैं, एक अत्यन्त सुन्दरी स्त्री राजा के सिरहाने खड़ी है। अपने भवन में आधी रात्रि के समय इतनी सुन्दरी सम्पूर्ण शृङ्गारों से युक्त एक अपरिचिता स्त्री को देखकर महाराज बड़े सम्भ्रम के साथ शैया से उठकर खड़े हो गये और लजाते हुए बड़ी मधुर वाणी में बोले—"देवि! आप कौन हैं? यहाँ क्यों खड़ी हैं? मुझसे क्या चाहती हैं।"

स्त्री ने कहा—"राजन्! मैं आपकी राजलक्ष्मी हूँ, आपके घर में दरिद्र आ गया है, जहाँ दरिद्र है वहाँ मैं कैसे रह सकती हूँ, इसलिये मैं जा रही हूँ। राजा ने कहा—"अच्छी बात है, जैसी आपकी इच्छा" इतना सुनते ही लक्ष्मी चली गई।

फिर कुछ काल में एक पुरुष आया। राजा ने पूछा—"आप कौन हैं?" उसने कहा—"मैं यश हूँ। जहाँ लक्ष्मी नहीं वहाँ मैं भी नहीं रहता। मैं जा रहा हूँ।"

राजा ने कहा—"जैसी आपकी इच्छा।" वह भी चला गया। अब क्रमशः ऐश्वर्य, कीर्ति, तुष्टि, सन्तोष, शौर्य, वीर्य सभी सद्-

गुण आये और चले गये। सबने कहा—"महाराज ! जहाँ लक्ष्मी हैं वहीं सब गुण हैं। काञ्चन में सभी गुण निवास करते हैं। लक्ष्मी हीन पुरुष गुणहीन समझा जाता है। अतः हम भी आपको छोड़ रहे हैं।"

सबके अन्त में धर्म आया। महाराज ने पूछा—"आप कौन हैं ?"

उसने कहा—"महाराज मैं धर्म हूँ।"

महाराज ने सम्हलकर पूछा—"आप क्या चाहते हैं ?"

कुछ रुक-रुककर अस्पष्ट वाणी में धर्म ने कहा—"महाराज ! सभी सद्गुण आपको छोड़कर चले गये हैं, लक्ष्मी भी चली गई हैं, इसलिये मुझे भी आज्ञा मिलनी चाहिये।"

महाराज ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"नहीं, भगवन् ! यह नहीं होने का। लक्ष्मी चली जाय, इसका मुझे कुछ भी सोच नहीं। सद्गुण रहे न रहे, उनकी मुझे चिन्ता नहीं, किन्तु आपको मैं नहीं छोड़ सकता। आपकी मैं प्राणपन से रक्षा करूँगा। आपके पीछे ही तो मैं दरिद्र को जान-बूझकर मोल लाया हूँ। आपकी रक्षा के लिये ही तो यह सब किया है। आप किसी तरह नहीं जा सकते।" इतना कहते-कहते महाराज ने कसकर धर्म को पकड़ लिया।

महाराज की ऐसी धर्मनिष्ठा देखकर धर्मदेव हँस पड़े और बोले—"राजन् ! जब आप मुझसे इतना स्नेह रखते हैं तो मैं आपको छोड़कर कैसे जा सकता हूँ। जो मेरी रक्षा करता है, उसकी मैं भी सदा रक्षा करता हूँ। प्रायः लोग धनहीन गुणहीन हो जाने पर तथा लोभवश धर्म को छोड़ देते हैं। आपने लक्ष्मी और सद्गुणों के चले जाने पर भी मुझे नहीं छोड़ा तो मैं आपको किसी भी प्रकार नहीं छोड़ सकता।" जब धर्म रह गये तो क्रमशः सभी सद्गुण लौट आये। राजलक्ष्मी भी फिर से आ गई। एक

धर्म की रक्षा करने से सभी गुणों की रक्षा हो जाती है और सब सम्पत्तियाँ धार्मिक नम्र पुरुष के समीप स्वतः ही चली आती हैं जैसे नीची पृथ्वी में नदियाँ अपने आप बहने लगती हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! वेन के अधर्म के कारण सब देवता, ऋषि, मुनि, मनुष्य, पशु, पक्षी, पृथ्वी आदि भूत उस पर कुपित थे। शनैः-शनैः सभी ने उसका साथ छोड़ दिया। अधार्मिक का भय से कोई कुछ दिन साथ भले ही दें, नहीं तो उसका साथ कौन दे सकता है। वह भगवान् की भी निन्दा करता था, इससे हतप्राय हो चुका था। इसीलिये तेज, ऐश्वर्य, प्रभाव उसके समीप से चले गये थे। अब भगवान् पृथु ने पैदा होते ही धर्म का आश्रय लिया। धर्म को अपनाया। धर्म भगवान् का हृदय ही ठहरा। धर्म की स्थापना के लिये ही तो भगवान् अंशावतार, व्यूहावतार, विभवावतार कलावतार, आवेशावतार आदि अवतार धारण करते हैं। धर्म का स्वयं पालन करना और प्रजा से पालन कराना यही तो भगवान् के अवतार का प्रधान हेतु है। धर्म को पकड़ते ही सभी ऐश्वर्य अपने आप आने लगे। वेन की नास्तिकता के कारण उनकी कोई वस्तु ग्रहणीय नहीं थी। अतः राजा के योग्य जितनी सामग्रियाँ होती हैं, वह सभी उन्हें उपहार में मिलने लगीं। सभी ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार पृथु महाराज को भेंट समर्पित करके उनकी शक्ति को बढ़ाया।

सर्वप्रथम कुबेर ने उनके बैठने के लिये राजोचित परम दिव्य सिंहासन दिया, जिस पर बैठकर राज-काज कर सकें। भगवान् पृथु का वेदज्ञ ब्राह्मणों ने बड़ी धूमधाम के साथ वेद मन्त्रों से अभिषेक किया। सातों समुद्रों के जल से उन्हें स्नान कराया गया, पूजन, हवन आदि जितने माङ्गलिक कृत्य हैं, उन्हें कराकर विधि-वत् उन्हें सबने मिलकर राजा बनाया। वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर नाना अलङ्कारों से अलंकृत अपनी पत्नी अर्चि के सहित

महाराज पृथु वरुण के दिये हुए मणिमय दिव्य सिंहासन पर सूर्य के समान प्रकाशित होने लगे। मानों अपनी पत्नी प्रभा के सहित आदित्यदेव अवनि पर उतर आये हों। प्रभा सहित, अग्नि के समान वे प्रकाशित हो रहे थे।

वरुण ने देखा, कुबेरजी ने मणिमय सिंहासन तो दे दिया किन्तु छत्र के बिना राजा की क्या शोभा। अतः एक दिव्य छत्र उन्हें अर्पण किया, जिसमें से गर्मियों में शीतल छोटे-छोटे जल विन्दु गिर रहे थे। वह चन्द्रमा के समान शुभ्र वर्ण का और प्रकाशवान् था। वायुदेव ने देखा, सिंहासन छत्र तो हो गये। अब छत्र के साथ चँवर भी चाहिये। इसलिये दो चँवर वायुदेव ने अर्पण किये। अब तो होड़ लग गई। सदाचार बन गया। जो भी देवता, गन्धर्व, मनुष्य, नद, नदी वहाँ आये, सभी को कोई-न-कोई दिव्य वस्तु महाराज पृथु को अर्पण करनी ही चाहिये। अतः धर्म देव ने प्रसन्न होकर उन्हें एक कीर्तिमय माला दी कि इसके धारण करने से सर्वत्र कीर्ति होगी। धर्मात्मा की ही कीर्ति बढ़ती है। इन्द्र ने मनोहर मुकुट उनके सिर पर पहिना दिया, दण्डधर यम ने उन्हें अपना दण्ड दिया। ब्रह्माजी ने ब्रह्ममय कवच–रक्षा के लिये–प्रदान किया। जिसे वेन ने धारण ही नहीं किया था। विष्णु भगवान् ने अपना सुदर्शन चक्र दिया। लक्ष्मीजी अर्चि देवी में आकर अन्तर्हित हो गयीं कि जैसे वह तुम्हारी जीवनसङ्गिनी है मैं भी चञ्चलता छोड़कर निश्चल रूप से तुम्हारे समीप रहूँगी।

भगवान् रुद्र ने एक ऐसा खड्ग दिया जिसमें १० चन्द्रमा के चिह्न बने थे। पार्वतीजी ने सोचा—"मैं जगदम्बिका ठहरी, अतः उन्होंने १०० चन्द्रमा के चिह्न वाली ढाल दी। चन्द्रमा ने चढ़ने को चमचमाती चाकचिक्ययुक्त अमृतमय असंख्यों अश्व प्रदान कये। त्वष्टा ने रमणीय रथ, अग्नि ने अत्यन्त सुदृढ़ सीगों वाला सुन्दर धनुष, सूर्य ने किरण रूपी वाण, पृथ्वी ने इस प्रकार के खड़ाऊँ

दिये कि जहाँ उन पर पैर रखा नहीं खट से अभीष्ट स्थान पर पहुँच गये। स्वर्ग ने कहा—"महाराज ! हम तो एक दिन देकर ही निवृत्त होना नहीं चाहते, नित्य ही आप पर अपने नन्दनकानन के दिव्य पुष्पों की वर्षा किया करेंगे।" आकाशगामी सिद्ध, चारण, गुह्यक, भूत, प्रेत, गन्धर्व आदि ने उन्हें दिव्य सङ्गीत प्रदान किया। जो नृत्य, गायन, वाद्य इस प्रकार से तीन अङ्गों वाला है। अन्तर्धान हो जाने वाली विद्या भी खेचरों ने उन्हें दी। त्यागी ऋषियों के पास देने को क्या था, अतः उन्होंने अपने अमोघ आशीर्वाद ही दिये। समुद्र ने अपने गर्भ में उत्पन्न हुए दिव्य शङ्ख को दिया। सातों समुद्रों, सरिताओं और शैलों ने मिलकर कहा—"महाराज ! हम आपको अव्याहत मार्ग देते हैं, आप जब चाहें जहाँ चाहें बिना किसी विघ्न बाधा और श्रम के हमारे ऊपर होकर निकल जायँ।"

इस प्रकार सभी से सभी वस्तुएँ ग्रहण करके महाराज पृथु यथार्थ में राजा हुए। अब तक जो राजा होते थे, वे अपनी ही कान्ति से शोभित होने के कारण राजा हुआ करते थे। उनके चुनाव के कार्यों में प्रजा का विशेष हस्तक्षेप नहीं होता था। राजा और मन्त्री मिलकर जो चाहें करें। किन्तु इन महाराज पृथु को तो सभी ने मिलकर राजा बनाया था। इनके राजा होने का हेतु शोभा बढ़ाना ही नहीं था। समस्त लोकों का रञ्जन करना। प्रजा के दुखों को स्वयं दुःख सहकर दूर करना, प्रजा की आवश्यकताओं को देखकर उनकी पूर्ति के लिये प्रबल प्रयत्न करना, यही इनके राजा होने का मुख्य उद्देश्य था। इन्होंने प्रजा की सुविधा के लिये अनेक कार्य किये, बड़े-बड़े नगरों की स्थापना की, उनमें प्रबन्ध के लिये नगर समितियाँ स्थापित कीं। ऊबड़-खाबड़ भूमि को काट-छाँटकर सम किया। पर्वतों को उठा-उठा-

कर उत्तराखण्ड में रख दिया। इसी कारण से ये आदि राजा कहलाये।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब महाराज पृथु का विधिवत् राज्याभिषेक हो गया तो सूत मागधों ने उनकी स्तुति आरम्भ की।"

छप्पय

लोकपाल सुरपाल सबनि मिलि सेवा कीन्हीं।
जा पै जो वर वस्तु हती तानें सो दीन्हीं॥
स्वीकारे उपहार करयौ सम्मान सबनिको।
प्रजापाल प्रभु भये बढ़यो उत्साह सुरनिको॥
सिंहासन आसीन पृथु, सुर नर ऋषि मुनि मन हरत।
उमड़यो आनँद दशों दिशि, हिय हरषत जय जय करत॥

महाराज पृथु की सूत मागधों द्वारा स्तुति

[२६०]

नालं वयं ते महिमानुवर्णने
यो देववर्योऽवतार मायया ।
वेनांगजातस्य च पौरुषाणि ते
वाचस्पतीनामपि बभ्रमुर्धियः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १६ अ० २ श्लो०)

छप्पय

मिलि मागध अरु सूत लगे विरुदावलि गावन ।
तब लज्जित ह्वै लगे तिन्हें हँसि पृथु समझावन ॥
अरे, मृषा गुन गाय समय च्यौं व्यथा बिताओ ।
कीर्तनीय हरि एक तिन्हींकी कीरति गाओ ॥
पौनी, सूत, कृपास नहिँ, वस्तु प्रशंसा होय जस ।
कीर्ति योग्य कछु करयो नहिँ, करहु प्रशंसा फेरि कस ॥

एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है, 'अपनी वस्तु किसे अच्छी नहीं

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! महाराज पृथु की स्तुति करते हुए सूत मागध आदि बन्दीजन कहते हैं—हे देवताओं में श्रेष्ठ ! हम आपकी महिमा वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि आप अपनी माया से ही अवतरित हुए हैं । आप वेन के शरीर से स्वयं उत्पन्न हुए हैं । ऐसे आपके पुरुषार्थ को वर्णन करते समय स्वयं वृहस्पतिजी की भी बुद्धि चक्कर में पड़ जाती है तब फिर हमारी तो बात ही क्या ।"

लगती।' ज्ञानी तथा भक्तों की बात छोड़ दीजिये। उनके लिये तो स्तुति निन्दा दोनों समान ही हैं। फिर भी प्रशंसा से सुख सभी को होता है। अन्तर इतना ही है, मूर्ख अज्ञानी अहङ्कारी अपनी प्रशंसा सुनकर फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। भले आदमी अपनी प्रशंसा सुनकर लज्जित होते हैं और सिर नीचा कर लेते हैं। मनस्वी पुरुषों को अपनी प्रशंसा अपने सम्मुख ही सुननी पड़े तो उन्हें यह बात बहुत अखरती है, किसी प्रकार प्रसङ्गान्तर करके वे उस बात को टालना चाहते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब सूत मागध महाराज पृथु की स्तुति करने को उद्यत हुए, तब उन्हें रोककर महाराज पृथु उनसे कहने लगे—"भैया! तुम लोग बड़ी अच्छी स्तुति करने वाले प्रतीत होते हो, किन्तु जब तक भोजन की सामग्री न हो, भोजन बना भी न हो, तभी तक उसकी प्रशंसा करने लग जायँ तो मूर्खता ही कही जायगी। तुम कहो कि जो सुन्दर भोजन बनेगा हम उसी की प्रशंसा करते हैं तो सम्भव है वह वैसे न बना तो प्रशंसा करने वाले की वाणी व्यर्थ हो जायगी।"

इस पर सूत मागध बोले—"विभो! हमारा कार्य ही है स्तुति प्रशंसा करना। मुनियों ने हमारी यही वृत्ति निर्धारित की है।"

महाराज पृथु बोले—"यह तुम्हारा कहना यथार्थ है, यदि तुम्हारा काम स्तुति करना ही है तो तुम श्रीहरि की स्तुति करो, भगवान् की प्रशंसा करो, वे ही स्तुति योग्य तथा प्रशंसनीय हैं। पवित्र कीर्ति पुण्यश्लोक प्रभु के रहते हुए कौन प्रतिष्ठित पुरुष साधारणजनों की प्रशंसा करेगा। जो गुण जिसमें है ही नहीं उनको उनमें उनके सम्मुख ही बताना उनका अपमान करना है, उन्हें लज्जित करना है, उन्हें मूर्ख बनाना है। अब तुम कहो कि अभी नहीं हैं वे गुण तो न सही, आगे हो जायँगे तो यह बात भी ठीक नहीं। वे गुण न हुए। फिर भविष्य के कार्यों को अनुमान

करके प्रशंसा करना और सुनना दोनों ही हास्यास्पद हैं। अतः भैया, तुम हमारी प्रशंसा मत करो। अभी लोक में हमारे गुण अप्रसिद्ध हैं, फिर बच्चों के समान हमारी कीर्ति का गान करने के निमित्त तुम इतने उतावले क्यों हो रहे हो ?"

महाराज की ऐसी बातें सुनकर सूत मागध मुनियों के मुख की ओर देखने लगे। मुनियों ने ही उन्हें स्तुति करने की आज्ञा दी थी। अब राजा निषेध कर रहे हैं। ऐसी दशा में किनकी बात मानें, किनकी न मानें। इस असमञ्जस में पड़े हुए मागध आदि बन्दियों से वेदवादी मुनि बोले—"अरे, तुम लोग महाराज के बहकावे में आ गये क्या ? तुम्हें हमारे बचनों पर विश्वास नहीं। हम जो कह देंगे वही होगा। तीनों कालों की घटनायें हमें तो उसी प्रकार याद हैं, जैसे हाथ पर रखे हुए आँवले की सब चीजें दिखाई देती हैं। तुम लोग हमारी बातें मानो और जो-जो गुण हमने इनमें बताये हैं उन सबका वर्णन करो। ये साधारण मनुष्य थोड़े ही हैं, ये तो भगवान् के अंशावतार हैं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! मुनियों ने इस प्रकार उन सब गुणगायकों को उत्साहित किया तो वे महाराज पृथु के गुणों का गान करने लगे।"

गायकों ने कहा—"महाराज ! हमारी क्या सामर्थ्य है, जो आपके गुणों का गान कर सकें। हमारे तो एक-एक मुख ही हैं। चतुर्मुख ब्रह्माजी, ६ मुख वाले षडानन, हजार मुख वाले शेषजी भी आपके गुणों का गान करने में असमर्थ, हैं हम तो अपनी जिह्वा को पवित्र करने के निमित्त आपके कुछ स्तोत्रों का गान करते हैं। हममें इतनी बुद्धि कहाँ है, जो आपके भविष्य कर्मों का अभी से गान कर सकें, किन्तु इन त्रिकालज्ञ महर्षियों ने हमें प्रेरित किया है, इन्होंने ही आपके कुछ गुणों को बताया है, इन्हीं की आज्ञा से हम कुछ कहते हैं।"

इस पर सभा में बैठे हुए सभासदों ने उन गायकों को उत्साहित करते हुए कहा—"नहीं, नहीं, आप महाराज पृथु के पावन चरित्रों का गान कीजिये। मुनियों ने जो आपको बताया है, समझाया है उन्हीं का सुन्दर भाषा में वर्णन करें।"

सभासदों का उत्साह पाकर गायक कहने लगे—"ये अकेले ही आठों लोकपालों के तेज को अपने श्रीअङ्ग में धारण करेंगे। सूर्य के समान आदान-प्रदान कर्ता होंगे। पृथ्वी के समान सदा सहनशील होंगे, किन्तु अग्नि के समान तेजस्वी भी होंगे। ये अपनी मनोहर मुसकान से सभी प्राणियों को प्रसन्न करते रहेंगे। ये बड़े पराक्रमी, तेजस्वी, यशस्वी, वाग्मी तथा विद्वानों का आदर करने वाले होंगे। ये वायु के समान सबके भीतर-बाहर व्याप्त होकर सबके मन की बातों को अपने चरों के द्वारा जान लेंगे। ये सम्पूर्ण भूमण्डल के चक्रवर्ती राजा होंगे। ये शोभा वाले ही राजा न होकर प्रजा का रंजन करने वाले राजा होंगे। ये शरणागतवत्सल, सत्यपरायण, साहसी, सहनशील, ब्राह्मणभक्त, वेदमार्ग के पोषक, विद्वानों द्वारा सत्कृत, गुरुजनों के सेवक, गौरववान्, गान-विद्या में निपुण होंगे। इनकी समता करने वाला संसार में दूसरा कोई शासक न होगा। ये सैकड़ों अश्वमेध यज्ञ करेंगे। ब्रह्मपुत्र सनत्कुमार से ज्ञान प्राप्त करके परमधाम को पधारेंगे। ये अपने समान अद्वितीय होंगे। इनकी बराबरी करने-वाला संसार में कोई न होगा। ये दीनों के रक्षक होंगे, प्रजाओं का पिता के सदृश पालन करेंगे। अधिक क्या कहें ये सर्वगुण-सम्पन्न, सर्वप्रिय सबके सुखदाता, भयभीतों के भयसंत्राता और निराश्रितों के आश्रयदाता होंगे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार और भी अनेक प्रकार की महाराज पृथु की स्तुति करके सूत मागधगण चुप हो गये।"

उनकी स्तुति से सन्तुष्ट होकर महाराज ने नियमानुसार वस्त्र, आभूषण और द्रव्य द्वारा उनका सत्कार किया और उनकी स्तुति करने की शैली की प्रशंसा भी की। इसके अनन्तर ब्राह्मणों ने स्वस्तिवाचन पाठ करके महाराज को आशीर्वाद दिया तदनन्तर राज्य के मन्त्रियों ने आकर नये महाराज का सम्मान किया और राजभक्ति की शपथ ली। फिर राजा के प्रधान-प्रधान कर्मचारी आये, उन्होंने हाथों की अञ्जलि बाँधकर महाराज को विविध भाँति की भेटें अर्पण कीं। राजपुरोहित ने आकर राज्य-सम्बन्धी शिक्षा-दीक्षा दी। पुरवासियों ने आकर अपनी श्रद्धांजलि समर्पित की। देशवासियों ने नये महाराज के चरणों में अपनी भक्ति प्रदर्शित की। चाण्डाल पर्यन्त सभी प्रजा के प्रतिनिधियों ने महाराज के सम्मुख अपनी-अपनी श्रद्धा प्रकट की। महाराज पृथु ने सभी का यथोचित स्वागत-सत्कार किया, सभी को दान, मान और सम्मान से सत्कृत करके उनके उपहारों को स्वीकार किया।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार अभिषेक सम्बन्धी सभी कार्य सम्पन्न हो जाने पर महाराज ने सभी को सम्मान सहित मधुर वाणी से सत्कारपूर्वक विदा किया। सबके चले जाने पर महाराज अपने अन्तःपुर में आये और सुखपूर्वक रहने लगे।"

छप्पय

सुनि सहमे सूतादि करयो संकेत मुनिनि जब।
तजिकें सब सङ्कोच करहिँ गुनगान हर्षि तब॥
ये हुङ्के अति सहनशील शरणागतवत्सल।
परमतेज सम्पन्न एक सम समझें जल थल॥
एक छत्र शासक सबल, सेवा सबकी करिङ्के।
दुहिता करि धरनी दुहें, कष्ट सबनिको हरिङ्के॥

——

महाराज पृथु का पृथ्वी पर कोप

[२६१]

यदाभिषिक्तः पृथुरुर्व्वि विप्रै-
रामन्त्रितो जनतायाश्च पालः ।
प्रजा निरन्ने क्षितिपृष्ठ एत्य
क्षुत्क्षामदेहाः पतिमभ्यवोचन् ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १७ अ० ८ श्लोक)

छप्पय

प्रजापाल पृथु भये आइ बोले जन सब अस ।
पृथिवी पै नाहँ अन्न, करें निर्वाह नृपति कस ॥
नृप सोचें—सब बीज भूमि निज उदर छिपाये ।
ताहीतें बिनु अन्न प्रजाजन अति घबराये ॥
भूख प्यास पीड़ित प्रजा, पृथु लखि चोट हिये लगी ।
ताँनि धनुष मारन चले, धेनु रूप धरि भू भगी ॥

जो सेवा करने में समर्थ नहीं उसे स्वामी बनने का भी अधिकार नहीं । जो प्रजा के दुःखों को दूर करने के लिये निरन्तर

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"प्रिय विदुरजी ! जब महाराज पृथु को ब्राह्मणों ने राज्यसिंहासन पर यह कहकर अभिषिक्त कर दी कि आप जनता के प्रतिपालक हैं, तब जिनके शरीर अन्न के अभाव के कारण भूख प्यास से दुर्बल हो गये हैं, उन समस्त लोगों ने आकर महाराज से अपना दुःख कहा ।"

प्रयत्न नहीं करता रहता उसे प्रजा-पालक नहीं कह सकते। जो आश्रितों पर आई हुई विपत्तियों के निवारण के लिये शक्ति भर उपाय नहीं करता वह भर्ता तथा भयत्राता कैसे कहा जा सकता है। प्रजा का कार्य है, न्यायपूर्वक राजा को आय का षष्ठांश दें और राजा का कार्य है प्रजा की दस्युओं से, चोर डाकुओं से, प्रवल शत्रुओं से दैहिक, दैविक विपत्तियों से रक्षा करे। जो राजा मन-मानी करता है, प्रजा के मत की अवहेलना करता है वह शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! वेन के धर्माचरण के कारण पृथ्वी श्रीहीन और सुख-समृद्धि से रहित हो गई थी। पृथ्वी तो वसुन्धरा है, इसके गर्भ में अगणित रत्न भरे हैं, किन्तु धर्मात्मा राजा के होने पर ही रत्नों को प्रकट करती है, अधार्मिक राजा के होते ही सब छिपा लेती है। फल सदा भावना के अनुसार होता है। देखिये, हमने देखा था, एक व्यक्ति के पास एक खेत था। उसमें इतना अन्न होता था कि एक वर्ष उस व्यक्ति का समस्त परिवार खाता था। विवाह, उत्सव, अतिथि-सत्कार सब उसी से होता था। जब वह मर गया उसका लड़का दुष्ट हुआ तो उस खेत में उतना भी अन्न नहीं हुआ कि उसका एक महीने भी निर्वाह हो सके। पृथ्वी वही, बीज वही, किन्तु धार्मिक भावना नहीं थी, इसलिये पृथ्वी का उर्वरापन नष्ट हो गया। जैसे हम लोग अपने घर में चोर डाकुओं को आते हुए देखते हैं तो अत्यन्त मूल्यवान वस्तुओं को किसी गुप्त स्थान में छिपा देते हैं, इसी प्रकार क्रूरकर्मा दस्यु राजाओं के शासक हो जाने पर पृथ्वी अपने समस्त बीजों को छिपा लेती है कि दुष्ट शासक इनका दुरुपयोग न कर सकें। वेन की दुष्टता के कारण पृथ्वी का उर्वरापन नष्ट हो गया गया था। उसमें जो भी अन्न डालो वह पृथ्वी का पृथ्वी में ही

विलीन हो जाता था, उसमें से अंकुर निकलते ही नहीं थे, इससे प्रजा में बड़ा असन्तोष फैल गया, सर्वत्र हाहाकार मच गया।

इसी दशा में वेन को मारकर परोपकारी ब्राह्मणों ने महाराज पृथु को राजा बना दिया और प्रजा से स्पष्ट कह दिया—"ये तुम्हारे पालक और रक्षक हैं, तुम्हें जो कष्ट हो, निर्भय होकर इनके सम्मुख निवेदन कर दिया करो। त्यागी-विरागी धर्मात्मा ब्राह्मणों की बात सुनकर प्रजा के लोगों को सन्तोष हुआ। अब वे सब-के-सब झुण्ड बना-बनाकर राजा के पास आने लगे। सब लोगों को दुबले-पतले म्लान मुख, दुःख से दुखी अपनी ओर आते देखकर महाराज पृथु ने पूछा—"कहो, भैया ! तुम लोगों को कौन-सा कष्ट है ? तुम लोग इतने कृश क्यों हो गये हो ?"

प्रजा के लोगों ने कहा—"महाराज ! हमें अग्नि झुलसा रही है, हम सब उसी की झुलस से जले जा रहे हैं।"

महाराज ने पूछा—"अग्नि भैया ! कहाँ लग गई ? किस वन में दावानल प्रज्वलित हो उठी, मुझे बताओ मैं उसका उपाय करूँगा।"

प्रजा के लोगों ने कहा—"प्रभो ! अग्नि बाहर से नहीं लगी है, भीतर की जठराग्नि ही प्रचण्ड होकर हमें दुःख दे रही है। महाराज ! हमारी इस भूख से रक्षा कीजिये। जैसे वृक्ष की खोंतर में बैठा पक्षी वृक्ष में आग लगने से झुलस जाता है उसी प्रकार हम सब झुलसे जा रहे हैं। पृथ्वी पर अन्न नहीं। इसीलिये भूख-प्यास के कारण मरे जा रहे हैं। आप हमारे जीविका देने वाले स्वामी-अधिपति चुने गये हैं, अतः हमें कहीं से भी जीविका दीजिये, हमारे प्राणों की रक्षा कीजिये।"

महाराज बोले—"अच्छी बात है, भैया ! मैं सोचूँगा। तुम सब अपने-अपने स्थानों को जाओ।"

प्रजा के लोगों ने कहा—"नहीं, नहीं महाराज ! सोचने से

काम नहीं चलेगा। जब तक आप सोच-विचार करेंगे तब तक तो हमारे प्राण पखेरू सदा के लिये उड़ जायँगे। आप तत्क्षण कोई कार्यवाही कीजिये, अति शीघ्र ही इस कुट्टिनी बुभुक्षा के निवारण का कोई अविलम्ब उपाय कीजिये। हे राजराजेश्वर! किसी भी उपाय से हमें खाने को अन्न दीजिये। आप अन्नदाता हैं, हमारे पेट की अग्नि को बुझाइये।"

प्रजा के लोगों के ऐसे करुणापूर्ण वचन सुनकर महाराज पृथु को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने सोचा—"मेरे राज्य में प्रजा अन्न के बिना दुखी रहे तो मेरे राजापने को धिक्कार है। महाराज बड़े यशस्वी थे। यशस्वी क्या थे, भगवान् के अंशावतार ही थे। उन्हें सर्वप्रथम यह बात सुनकर पृथ्वी पर ही क्रोध आया। उन्होंने सोचा—"पृथ्वी की यह कैसी धृष्टता है कि बोये हुए अन्नों को भी पचा जाती है, उसमें से अंकुर पैदा नहीं करती। यह तो वही दशा हुई कि गौ दिन भर तो घास-भूसा खाती रहे और दूध देते समय विदुक जाय। आज मैं इस पृथ्वी को ही ठीक करूँगा। इसी को ही ताड़ना दूँगा। इसे इसके कुकर्म का फल चखाऊँगा।" यह सोचकर वे धनुष-बाण लेकर पृथ्वी को मारने के लिये दौड़े। पृथ्वी ने भी जब देखा कि यह प्रतापशाली सर्वसमर्थ सम्राट् मुझे मार डालना चाहता है तो वह गौ का रूप रखकर प्राणों के भय से भयभीत होकर भागी।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पृथ्वी कैसे भागी? पृथ्वी तो जड़ है। उसे राजा मारने दौड़े, कैसे मारने दौड़े क्या फावड़ा लेकर खोदते थे? फिर पृथ्वी गौ का रूप रखकर भागी तो पृथ्वी के लोग कहाँ रहे? राजा किसके ऊपर भागे?"

यह सुनकर सूतजी हँसते हुए बोले—"अच्छा महाराज! आप भी अब कलियुगी लोगों के से तर्क करने लगे। ठीक ही है अब तो घोर कलियुग ही आने वाला है, लोग इन बातों पर

विश्वास थोड़े ही करेंगे कि जड़ पृथ्वी गौ का रूप रखकर भागी। महाभाग ! जड़ क्या पदार्थ है ?"

शौनकजी बोले—"जड़ वही जिसमें कुछ जीवन सम्बन्धी कम्पनादि क्रिया करने की शक्ति न हो।"

सूतजी बोले—"जब यही बात है, तब तो सभी स्त्रियाँ जड़ हैं, पुरुष भी जड़ हैं, ये सब बाल-बच्चे पैदा करते हैं ये भी जड़ हैं।"

शौनकजी बोले—"जड़ कैसे हैं, देखिये रज वीर्य के संयोग से एक बुदबुद बनता है, नित्यप्रति बढ़ता है, पेट में भी वह खाता है, हिलता है, डुलता है। कड़वे खट्टे-मीठे का अनुभव करता है। स्वतः पैदा होता है, बोलता है, रोता है, चलता-फिरता है, देखता सुनता है। ये सब क्रियायें जड़ में तो नहीं होतीं।"

इस पर सूतजी बोले—"तब भगवन् ! आप पृथ्वी को जड़ क्यों कहते हैं। जैसे माता के गर्भ में वीर्य बढ़कर वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार पृथ्वी के गर्भ में बीज अंकुरित होकर वृद्धि को प्राप्त होता है। वह नित्य बढ़ता है, पुष्प लगते हैं, फल लगते हैं। वृक्षों को देखने की भी शक्ति है, ऐसा न हो तो लतायें डाली की ही ओर कैसे बढ़ती हैं, उसे ही कैसे पकड़ लेती हैं। वृक्षों में शक्ति भी है, ऐसा न होता तो जल के पड़ते वे हरे-भरे होकर लहलहाने क्यों लगते ? उष्णता के स्पर्श से कुम्हिला क्यों जाते। चार प्रकार के जीवों में उद्भिज जीवों की गणना अनादि काल से होती आ रही है। इन समस्त जीवों को उत्पन्न करने वाली और आश्रय देने वाली पृथ्वी को आप जड़ कैसे बना रहे हैं ?"

शौनकजी बोले—"अच्छा, जड़ न सही चैतन्य ही सही, फिर वह गौ का रूप रखकर कैसे भागी, इतनी लम्बी-चौड़ी पृथ्वी गौ कैसे बन गई ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! लम्बा होना, चौड़ा होना, छोटा-मोटा होना यह तो शरीर का धर्म है। शरीरी तो शरीर से पृथक्

ही होता है न। हम जो अपने को हम कहते हैं तो क्या हम इस शरीर को थोड़े ही कहते हैं। शरीर अभिमानी देवता को कहते हैं। योगियों को आपने देखा नहीं अनेक रूप रख लेते हैं। अनेक शरीर बना लेते हैं। जैसे हम लोगों के रहने का स्थान गृह है। घर हमारा आश्रय है, उसमें रहने के कारण हम घर थोड़े ही हो गये। चाहे जब उस घर को छोड़कर दूसरे में चले जायँ। योगी लोग परकाय प्रवेश करते ही हैं। अभी कलियुग में मैंने अपनी आँखों एक प्रत्यक्ष घटना देखी।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! कौन-सी प्रत्यक्ष घटना आपने देखी उसे हमें भी सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभागा! मैं प्रायः श्रीबदरीनाथ की यात्रा को जाया करता हूँ। मेरे परम गुरु इस धराधाम पर विराजमान होते हुए भी आजकल कलियुगी जीवों को प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते। किन्हीं भाग्यशाली पुरुषों को ही भगवान् वेदव्यास के दर्शन होते हैं। मैं बदरीवन में भगवान् बदरीनाथ के दर्शनों को तो जाता ही हूँ, एक यह भी लोभ रहता है, उस सभ्याप्रास की पुण्य भूमि के भी दर्शन कर आता हूँ, जहाँ पर समस्त भागवती कथाओं का बीजारोपण और प्रादुर्भाव हुआ है।

हाँ तो मैं यात्रा के निमित्त जा रहा था। बहुत से यात्री भी "बद्रीविशाल लाल की जय" बोलते हुए जा रहे थे। कोई समृद्धशाली श्रेष्ठि भी अपने परिवार के सहित यात्रा के निमित्त जा रहा था। उसका एक अत्यन्त ही सुन्दर, बड़ा ही रूपवान किशोरावस्थापन्न पुत्र था। उसके सभी अङ्ग बड़े ही सुडौल थे, सुवर्ण के समान उसका वर्ण था, बड़ा सुशील और धार्मिक वृत्ति का था। पिता उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। मेरे लाल को पर्वतीय विकट पथ में कष्ट न हो इस भय से श्रेष्ठि ने उसके लिये सुन्दर नरवाहन का प्रबन्ध कर दिया था। बच्चा पिता के आग्रह से उसमें बैठ तो

जाता था, किन्तु बदरीनाथ के पुण्य पर्वतों के प्राकृतिक दृश्यों को देखकर उसका हृदय नृत्य करने लगता। अवसर पाकर वह हाथ में छड़ी लेकर पैदल ही चलता और इधर-उधर देखता जाता। यह १५-१६ वर्ष की अवस्था बड़ी ही चञ्चलतापूर्ण होती है। अङ्ग-अङ्ग में सिहरन होने लगती है, हृदय में एक अजीब परिवर्तन-सा प्रतीत होने लगता है। चित्त नई-नई जानकारी के लिये उत्सुक रहता है। नये दृश्य देखने में बड़े आह्लाद होते हैं। बदरीनाथ के पर्वतों के शिखरों पर इधर-उधर बहुत से सुगन्धित पुष्प खिलते रहते हैं। वहाँ की प्रत्येक घास में एक प्रकार की मादक गन्ध रहती है। बच्चा अपनी स्वाभाविक चञ्चलता के कारण कभी-कभी पथ से पृथक् होकर दृश्य देखने लगता। इस फूल को तोड़, उस घास को उखाड़, इस पत्थर को उठा, इसमें उसे बड़ा आनन्द आने लगा। एक स्थान में वह एक नाले का सहारा लेकर ऊपर चढ़ गया। सेवक भी साथ थे। ऊपर जाकर वह फूल तोड़ने लगा सहसा एक बड़े पत्थर के नीचे से एक कारियल विषधर सर्प निकला और उस बच्चे की उँगली में काटकर अत्यन्त शीघ्रता के साथ भाग गया। क्षण भर में बच्चा मर गया। श्रेष्ठि दम्पति की बुरी दशा थी। उन दोनों के करुण क्रन्दन को सुनकर पहाड़ के पत्थरों के हृदय भी पिघलने लगे। मुनियों! इस संसार में पुत्र-शोक से बढ़कर दूसरा कोई भी दुःख नहीं। आप सब तो स्त्री-पुत्रों के सुख से वञ्चित ही हैं, जब आपके पुत्र ही नहीं तो उसके वियोग दुःख का तो अनुभव होगा ही कैसे। किन्तु महाभाग! यही समझें कि पुत्र के वियोग में मृत्यु से बढ़कर दुःख होता है। जिनका कामदेव के समान सर्वगुण सम्पन्न प्राणों से भी प्रिय इकलौता पुत्र मर गया हो, वह भी घर पर नहीं, यात्रा में तो उन माता-पिताओं के दुःख का तो कहना ही क्या? अब क्या किया जाय सर्प के काटे हुए को जलाया तो जाता नहीं। कलकलनिनादिनी

भगवती अलकनन्दा के अत्यन्त शीतल जल में उस श्रेष्ठि सुत के शव को प्रवाहित कर दिया गया। श्रेष्ठि दम्पति रोते-चिल्लाते बदरीनाथ की ओर बढ़े आगे जा रहे थे, बच्चे का शव अलकनन्दा के प्रवाह में पाषाणों से टकराता हुआ नीचे की ओर बह रहा था। मुनियो! उस बच्चे की मृत्यु को देखकर मेरे हृदय में करुणा उत्पन्न हुई। स्वाभाविक ही उस सलौने बच्चे की मनमोहक मूर्ति की ओर मेरा आकर्षण हो गया था। मैं खड़ा-खड़ा जल की चपेटों से डूबते-उतराते बहते हुए उस शव को देखता रहा। सहसा मैं क्या देखता हूँ कि अलकनन्दा के उस पार गहन वन से एक नर-कङ्काल-सा आता हुआ दिखाई दिया। उस दुबले, पतले, लम्बे वृद्ध को देखकर मुझे भय भी हुआ, आश्चर्य भी हुआ। मैंने देखा वह बड़े वेग से अलकनन्दा के प्रबल तीक्ष्ण प्रवाह में घुस गया और उस शव को पकड़कर किनारे ले आया। अब मेरा सन्देह बढ़ा। मैंने समझा यह कोई अघोरी है। या तो मुरदों को खाता होगा या इनके द्वारा प्रयोग करता होगा। मैं खड़ा-खड़ा देखता रहा। वह क्षीणकाय पुरुष उस शव को दोनों हाथों में उठाकर एक बड़े पाषाण खण्ड पर ले गया। पहिले तो उसने उस शव को उल्टा करके उसके पेट के पानी को निकाल दिया। फिर उसे पट्ट लिटाकर उस पर हाथ फेरा। हाथ फेरते ही वह मृतक शरीर तो जीवित हो गया और उस वृद्ध पुरुष का कङ्काल शरीर मृतक बनकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उस जीवित पुरुष ने उस कङ्काल निर्जीव देह को दोनों हाथों से उठाकर बड़े जोर से अलकनन्दा में फेंक दिया और वह स्वेच्छा से वन में घुस गया। तब मैं समझा ये कोई योगी हैं जो जीर्ण शरीर को त्यागकर इस सुन्दर शरीर में प्रवेश कर गये। सो मुनियो! यहाँ वाली पृथ्वी वास्तव में पृथ्वी नहीं, यह पृथ्वी का शरीर है। पृथ्वी की जो अधिष्ठातृ-देवी है वह किसी भी शरीर में प्रवेश होकर कोई भी रूप रखकर

क्रिया कर सकती है। पृथ्वी का गौ रूप से ब्रह्माजी के यहाँ जाना, देवलोक में जाना, अनेकों स्थानों पर आता है और यह कपोल-कल्पना नहीं सत्य है। इसलिये आप इस विषय में शङ्का न करें। साधारण आदमियों को जो न दीखे वह है नहीं, यह सिद्धान्त मान्य नहीं। बहुत से रोग के कीड़े साधारण लोगों को नहीं दीखते तो क्या उनका अस्तित्व ही नहीं। अनेक नगरों को हमने नहीं देखा तो क्या वे हैं ही नहीं। और की बात जाने दो अपनी-अपनी आँखों को ही हम नहीं देख सकते, अपनी पीठ को भी नहीं देख सकते तो क्या ये है नहीं। कुछ बातें अनुमान से सिद्ध होती हैं, कुछ आप्त वाक्यों से महापुरुषों के वचन ही उसके सत्य होने में प्रमाण हैं। पृथ्वी देवी है, वह गौ का रूप रखकर समय-समय पर देवताओं से, ऋषियों से बातें करती है। इसमें शास्त्र ही प्रमाण हैं। महाराज पृथु कोई साधारण मनुष्य तो थे नहीं, वे तो भगवान् के साक्षात् अवतार थे, उनके साथ गौ रूपी पृथ्वी का सम्वाद होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! आप ठीक कहते हैं। आर्ष प्रमाण आप्त वाक्य के अतिरिक्त कोई दूसरा मुख्य प्रमाण है ही नहीं। हम महर्षि शुनक के पुत्र हैं, हम भृगुवंशी हैं। ये बातें हमने देखी तो हैं नहीं परम्परा से सुनते आये हैं—इसे ही सत्य मानते हैं। इसलिये शास्त्रीय वाक्य ही मुख्य प्रमाण हैं, हाँ तो पृथ्वी और पृथु महाराज का क्या सम्वाद हुआ, इसे आप सुनाइये।"

इस पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए सूतजी बोले—"महाराज! आप तो सब जानते हैं। लोगों के हित के लिये ऐसी बातें पूछते हैं। अच्छी बात है, अब जिस प्रकार भगवान् मैत्रेय ने विदुरजी को पृथ्वी और पृथु का सम्वाद सुनाया था, उसे ही मैं आपको सुनाऊँगा, आप समाहित चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

धरे धनुष पै बान लखे पृथु भागी धरनी ।
ज्यों कर लीये पाश व्याध लखि भागे हरिनी ॥
त्रिपुर विनाशन हेतु मनहुँ सर शम्भु सजायो ।
धर्म धेनु वध हेतु मनहुँ पञ्चानन धायो ॥
मुरि मुरि निरखत भयसहित, जावै वसुधा जहाँ जहँ ।
सन्धानें सर करें पृथु, पीछो ताको तहाँ तहँ ॥

महाराज पृथु का पृथ्वी के साथ सम्वाद

[२६२]

वसुधे त्वां वधिष्यामि मच्छासनपराङ्मुखीम् ।
भागं बर्हिषि यां वृङ्क्ते न तनोति च नो वसु ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १७ अ० २२ श्लोक)

छप्पय

बोली वसुधा विभो ! व्यर्थ च्यौं मोकूँ मारो ।
अबला सदा अबध्य ताहि फिर च्यौं संहारो ॥
बिना बात च्यौं बान चलाओ बात बताओ ।
निरपराधिनी मोइ मारिकें का तुम पाओ ॥
पृथु बोले—दुष्टे धरनि ! तोपै बान चलाउँगो ।
सबकूँ सुखी बनाउँगो, यमपुर तोहि पठाउँगो ॥

ब्रह्मलोक तक के जितने जीव हैं, सबको अन्न-आहार पृथ्वी से ही प्राप्त होता है। जो जिसका आहार है, वही उसका अन्न है। जो खाया जाय (अत्तीति अन्नम्) उसी का नाम अन्न है। गाय, भैंस, बैल आदि पशुओं का अन्न घास है। बन्दर आदि का अन्न फल-मूल है। बगुला आदि का अन्न छोटे जन्तु मछली आदि

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! कुपित हुए महाराज पृथु पृथ्वी से कहते हैं—हे वसुधे ! मैं तेरा वध अवश्य करूँगा, क्योंकि तू शासन को नहीं मानती है। तू यज्ञ में देवताओं के साथ अपना भाग तो लेती है किन्तु उसके बदले में हमें वसु—भोजन रूपी धन—नहीं देती।"

हैं। दो पैर वाले प्राणियों का अन्न औषधि जौ गेहूँ आदि हैं। मांसाहारियों का अन्न मांस है। देवताओं का अन्न अग्नि में दी हुई आहुतियाँ हैं, पितरों का अन्न श्राद्ध में दिये हुए पिण्डादि हैं। महा, जन, तप और सत्यलोक के प्राणियों का अन्न ज्ञान, ब्रह्मचर्य, तपस्या और ध्यान आदि हैं। पृथ्वी पर कर्म करके ही प्राणी इन लोकों को प्राप्त करते हैं। नरक और स्वर्ग के भोग भी यहीं से मिलते हैं। पृथ्वी पर भारतवर्ष को छोड़कर और जितने वर्ष द्वीप हैं, नीचे के ७ लोक, ऊपर ६ लोक ये सभी भोग-भूमियाँ हैं, केवल मर्त्यलोक में यह भारतवर्ष ही कर्म-भूमि है। इसलिये भारतवर्ष को छोड़कर अन्य लोकों और द्वीपों में युगों की कल्पना नहीं। क्योंकि वे तो भोगस्थान हैं, जब तक का पुण्य है, पुण्यलोकों में सुख भोगो। जब तक का पाप है, अनेक प्रकार के नरकों में दुःख भोगो। जब सब पुण्य पाप भोग लेने पर कुछ समान से शेष रह जायँ तो इस कर्मभूमि में उत्पन्न होकर प्राणी कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। इसीलिये अवतारों का विशेष प्रयोजन इस कर्मभूमि पर ही है, यही भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये भगवान् के भिन्न-भिन्न अवतार होते हैं। यह पृथु अवतार पृथ्वी की व्यवस्था करने, पृथ्वी को दुहकर सबके नष्ट हुए भाग को फिर से प्राप्त कराने के लिये हुआ था।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब गौ-रूप धारिणी पृथ्वी महाराज पृथु के भय से भागी तो महाराज ने भी धनुष बाण लेकर उसका पीछा किया। वह दशों दिशाओं में दौड़ती फिरी, स्वर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष नीचे तथा ऊपर के लोकों में कोई भी उसे शरण देने वाला दिखाई नहीं देता। वह जहाँ-जहाँ जाती, वहीं उसे साक्षात् यमराज अन्तक के समान पीछे लगे हुए महाराज पृथु दिखायी देते। जब वह थक गयी, सब स्थानों से निराश हो गयी तो दुखित होकर मुड़ी और महाराज पृथु की शरण में आई।

उसने दीनता के स्वर में महाराज से कहा—"प्रभो ! आप सब प्राणियों के पालक हैं। हे शरणागतवत्सल ! आप तो सभी को शरण देने वाले हैं। हे धर्मज्ञ ! आप तो धर्म का पालन करने वाले हैं। फिर इतने कठोर मेरे प्रति क्यों हो गये हैं ? मेरे प्रति अपने स्वभाव के प्रतिकूल आचरण क्यों कर रहे हैं ? जब आप सबके पालक हैं तो मेरी भी पालना कीजिये। जब आप भयभीतों के भयत्राता, असहायों के शरणदाता हैं तो मुझे भी अभयदान दीजिये। जब आप धर्म के मर्म को भली-भाँति जानते हैं तो सदा से अवध्या मानी जाने वाली अबला के ऊपर आप अपना अमोघ अस्त्र क्यों छोड़ रहे हैं ? मैंने तो आपका कोई अपराध किया नहीं ?"

महाराज पृथु बोले—"अपराध तो तैंने क्यों नहीं किया है, तू मेरी प्रजा को अन्न नहीं देती। मेरे साथ अशिष्ट व्यवहार करती है। मेरी प्रजा भूखों मर रही है।"

पृथ्वी ने कहा—"अच्छा, मान लीजिये, मैंने अपराध भी किया हो तो अपराधिनी स्त्री को भी धर्मात्मा पुरुष नहीं मारते। स्त्रियों पर शस्त्र चलाना सर्वथा निषेध है।"

महाराज पृथु ने कड़ककर कहा—"नहीं, ऐसी बात नहीं है, तू मुझे धर्म सिखाती है। धर्म गति अत्यन्त सूक्ष्म है। किस काम के करने से धर्म होता है, किसके करने से अधर्म होता है, इन बातों को सब नहीं जानते। जो अधम पुरुष अपने मुँह अपनी ही प्रशंसा करने वाला हो, जो सभी प्राणियों को दुःख देने वाला हो, जिसके कारण सभी को उद्वेग होता हो ऐसा प्राणी चाहे स्त्री हो या पुरुष उसे मार देने पर राजा को दोष नहीं लगता, उलटा उसे महापुण्य ही प्राप्त होता है। सृष्टि के आदि में ब्रह्माजी के बनाये हुए बीजों को तैंने अपने गर्भ में छिपा लिया है, इसलिये मैं तुझे मारकर उन सबको निकलवा लूँगा।"

पृथ्वी ने विनीत भाव से कहा—"महाराज ! आप तो रोष में भर रहे हैं। आप स्वयं ही सोचिये। मुझे यदि आप मार डालेंगे तो अपनी इतनी प्रजा को आप रखेंगे कहाँ ? जीवों का आधार तो मैं ही पृथ्वी हूँ, मुझे मारकर क्या सबको आश्रयहीन बना देंगे।"

गरजकर महाराज पृथु ने कहा—"तू कैसी बातें कर रही है, तुझे मेरी सामर्थ्य का, बल, वीर्य, पराक्रम और योग, ऐश्वर्य का पता नहीं। मैं अपने योग बल से समस्त प्रजा को स्वयं ही धारण करूँगा।"

पृथ्वी ने दीनता के स्वर में कहा—"प्रभो ! मुझे आपकी शक्ति का पता है, आप सर्वेश्वर हैं, सर्वसमर्थ हैं, सब कुछ कर सकते हैं, किन्तु मेरी मर्यादा भी तो आप ही ने स्थापित की है।"

क्रोधपूर्वक महाराज पृथु ने कहा—"मैंने क्या यही मर्यादा स्थापित की है कि यज्ञ के भागों को तो तू गट्ट-गट्ट गटक जाय और अन्न देने के समय ऊसर बन जाय। आज मैं तिल-तिल के बराबर तेरे टुकड़े कर दूँगा। फिर से तुझे मेदिनी बना दूँगा।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! भगवान् पृथु को क्रुद्ध देखकर पृथ्वी ने बड़े ही दीनता भरे शब्दों में उनकी स्तुति की पृथ्वी को स्तुति सुनकर भी महाराज का क्रोध शान्त नहीं हुआ। उनके निश्चय में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ तब तो पृथ्वी अत्यन्त ही भयभीत हुई। उसने अपने मन को स्थिर किया और अत्यन्त ही दीनता के साथ कहने लगी—"राजन् ! आप इतने कुपित क्यों हैं। आप जैसे विवेकी पुरुष स्त्रियों पर इतना क्रोध नहीं करते। आपकी इस मृत्युमयी मूर्ति को देखकर मैं अत्यन्त ही डरी हुई हूँ। आप अपनी सौम्यमयी मूर्ति बनाइये। मुझे बताइये मैं आपकी किस आज्ञा का पालन करूँ ?"

महाराज पृथु ने कहा—"तुम मेरी प्रजा का अभीष्ट पदार्थ

जब तक न दोगी, तब तक मैं क्रोध को कभी भी त्याग नहीं सकता।"

पृथ्वी ने कहा—"महाराज! बुद्धिमान पुरुष सारग्राही होते हैं। जैसे भौंरा सब फूलों से रस तो ग्रहण कर लेता है, किन्तु उन्हें नष्ट नहीं करता। उसके सौन्दर्य में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ने देता। पूर्वाचार्य मुनियों ने कार्य सिद्धि के अनेक उपाय बताये हैं, शान्ति के सहित बिना किसी के नाश किये शास्त्रीय विधि से जो कार्य किया जाता है उसका फल शुभ होता है, जो अपने ही क्षुद्र तर्कों से मनमानी काम कर बैठते हैं वे पीछे पछताते हैं। अतः आप इस विषय में क्रोध को त्याग दें, मेरी बात सुनें क्यों मैं अन्न को उत्पन्न नहीं करती।"

महाराज पृथु ने कहा—"अच्छी बात है, बता, क्यों तू औषधियों को उत्पन्न नहीं करती?"

पृथ्वी ने कहा—"देखिये महाराज! प्राचीन काल में ब्रह्माजी ने समस्त अन्नादि औषधियों को उत्पन्न किया था। जो लोग धर्म करते थे, उन्हें मैं यथेष्ट औषधियाँ बिना मांगे ही देती थी। वे जो खायँ पहिने, जितने चाहें यज्ञ करें, उतना ही अन्न, धन, रत्न मैं उत्पन्न कर देती थी। जब धर्मात्मा राजा मेरे ऊपर से चले गये क्रूरकर्मा, हिंसक, नास्तिक, द्वेषी, परपीड़क, स्वार्थी, दस्युधर्मी पुरुष मेरे ऊपर शासन करने लगे, प्रजा को पीड़ा पहुँचाने लगे, तब सब औषधियों को मैंने अपने उदर में छिपा लिया। आप लोग धर्मात्मा जब मेरी रक्षा करने में उदासीन हो गये तो उन अधर्मियों को अपने अन्न से पुष्ट करती तो यज्ञ याग सभी बन्द हो जाते। अतः यज्ञ रक्षार्थ ही मैंने अन्नों को छिपा रक्खा है। अब अधिक काल होने से वे मेरे पेट में पच गये। अब किसी युक्ति से उन्हें आप निकाल लें। मेरा दोहन कर लें।"

महाराज पृथु ने कहा—"तुम्हारा दोहन किस प्रकार होगा, उस युक्ति को भी तुम मुझे बता दो।"

पृथ्वी बोली—"देखिये महाराज! मैंने गौ का रूप धारण कर लिया है। गौ को दुहने के लिये तीन वस्तुएँ चाहिये। एक तो दुहने वाला, एक दोहन का पात्र और एक गौ का बछड़ा। बछड़ा को देखकर गौ उसके प्रेम से दूध उतारती है। बछड़े के बिना जो बलपूर्वक विविध कृत्रिम उपायों से गौ का दूध निकालते हैं, उससे अन्तःकरण में सद्गुणों का विकास नहीं होता, कारण उसमें दुग्धपने का गुण नहीं होता। अतः राजन्! पहिले आप किसी श्रेष्ठ प्राणी को मेरा बछड़ा बना लें। मेरा नाम कामधेनु है, जैसा बछड़ा होगा, उसके अनुरूप ही मैं वैसा अन्न उसके लिये उत्पन्न कर दूँगी। बछड़े के अनुरूप ही मेरा दुग्ध परिवर्तित होता रहेगा।"

पृथुजी ने पूछा—"दोहने वाला, दोहन पात्र और बछड़े के अतिरिक्त और तो कुछ न करना होगा?"

पृथ्वी ने कहा—"हाँ, एक काम और भी करना है, उसे आप ही कर सकते हैं। आप देख रहे हैं कि मैं ऊबड़-खाबड़ हूँ, सब स्थानों में मेरे ऊपर पहाड़ हैं, पानी बरसता है तो बहकर नदियों में चला जाता है, मेरे ऊपर टिकता नहीं। सर्वत्र विषम बनी हुई हूँ। आप इन सब पहाड़ों टीलों को उखाड़कर एक स्थान में रखिये। मुझे बराबर बनवाइये, मेरे ऊपर खेतों की मेड़ बनवाइये, खेती का प्रबन्ध कीजिये, ताकि क्यारियाँ बनने से जल ठहर सके। ऐसा होने से मैं यथेष्ट अन्न उत्पन्न करूँगी। इन कंकड़ पत्थरों को मेरी मिट्टी से पृथक् करके मुझे कोमल मृत्तिका मयी बनवा दें। गङ्गा-यमुना के बीच में अपने परम पुण्यप्रद प्रदेश में तो मुझे समान कर दें। कहीं भी पर्वत टीला न रहे। फिर आप देखें मैं कितना अन्न देती हूँ।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! पृथ्वी की यह बात महाराज पृथु ने मान ली और वे पृथ्वी को दुहने का उपक्रम करने लगे।"

छप्पय

धरनी धरिकें धीर, वीरतें बोली बानी।
मोइ न मारें नाथ ! आपु ज्ञानी विज्ञानी॥
गऊ तिहारी बनी सबनितें दूध दुहाओ।
दुहनी दोग्धा लाइ वीरवर वत्स बनाओ॥
युक्ति सहित यदि दुहेंगे, तो इच्छित फल देउँगी।
प्रकट सबहिं औषधि करूं, दुहिता बनि यश लेउँगी॥

राजा पृथु के प्रभाव से पृथ्वी दोहन

[२६३]

इति प्रियं हितं वाक्यं भुव आदाय भूपतिः ।
वत्सं कृत्वा मनुं पाणावदुहत्सकलौषधीः ॥
तथा परे च सर्वत्र सारमाददते बुधाः ।
ततोऽन्ये च यथाकामं दुदुहुः पृथुभाविताम् ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १८ अ० १२,१३ श्लोक)

छप्पय

सुनि वसुधाके बैन वैन-सुत दुहिबे लागे ।
मनुकूँ कीयो वत्स पात्र कर कीयो आगे ॥
सुर-गुरु दोही इन्द्र वत्स करि कनक पात्रमहँ ।
अमृत रूप जो दुग्ध, ओज बल वीर्य गात्रमहँ ॥
असुर दैत्य प्रह्लादकूँ, बछरा गौके करि लये ।
लोह पात्रमहँ सुरा अरु, आसव दुहिकें भगि गये ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इस प्रकार पृथ्वी के द्वारा कहे हितकारी और प्रिय वचनों को मानकर महाराज पृथु ने अपने पूर्वज स्वायम्भुवमनु को वत्स बनाकर अपने हस्त रूपी पुनीत पात्र में जितने प्रकार की औषधियाँ थीं सभी को दुह लिया । इसीलिये पृथु के दुह लेने के अनन्तर और जितने भी जीव थे सभी ने अपनी-अपनी भावना के अनुसार पृथु के द्वारा वश में की हुई पृथ्वी को दुह लिया । महाराज के समान जितने बुधजन सब स्थानों से सार ग्रहण कर लेते हैं ।"

वस्तुएँ सब एक-सी हैं, इनमें भेद नहीं, विषमता नहीं, दुःख नहीं, सुख नहीं। योग के भेद से, कर्ता के भेद से, पात्र के भेद से वस्तुओं में भेद-भाव स्थापित कर लिया जाता है। योग का भेद इस प्रकार है कि अंगूर हैं, जौ हैं, गुड़ है, ये सब सुन्दर हैं सात्विक हैं, किन्तु इन्हें ही सड़ाकर युक्ति से सुरा बनाते हैं तो यह तामस और मादक अशुचि वस्तु बन जाती है। कर्ता के भेद से इस प्रकार होता है कोई धातु है शुद्ध सात्विक कर्ता उसकी भगवान् की मनोहर मूर्ति बनाता है, उसका पूजन करके परम पद को प्राप्त करता है। दूसरा हिंसक कर्ता उसके अस्त्र-शस्त्र बनाता है, खड्ग बाण आदि बनाके निरपराध प्राणियों की हिंसा करता है नरक का अधिकारी बनता हे। कर्ता जैसा योग करेगा वैसी ही वस्तु बन जायगी। संखिया है। कर्ता चाहे तो उसके प्रयोग से दूसरों के प्राण ले सकता है और उसी को शोधकर फूंककर औषधि बनाकर मरते हुओं को जिला सकता है। पात्रभेद से भी वस्तुओं में भेद हो जाता है। दूध, दही अमृत माने गये हैं। किन्तु इन्हें ही ताँबे के पात्र में रख दो तो विष बन जाते हैं। वर्षा का जल है। नदी में पड़ने से मिष्ठ और पेय होता है, वही समुद्र में पड़ने से खारा और अपेय हो जाता है। वस्तुओं को अच्छी-बुरी बनाने वाला कर्ता की भावना ही है। भाव ही भाव का कारण है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब पृथ्वी रूपी गौ सौम्य बन गई और उसने अपने आपको दुहने की सम्मति दी तो सबके स्वामी महाराज पृथु ने समस्त प्राणियों के कल्याण के निमित्त सभी का आहार पृथ्वी से दुहा। जिसकी जैसी प्रकृति थी, जिसे जो वस्तु रुचिकर थी, उसने वही वस्तु अपने पात्र अनुरूप बछरा बनाकर दुह ली।"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"महाराज ! गौ तो एक ही है फिर उसके दूध में भेद-भाव कैसे हो गये ?"

यह सुनकर मैत्रेयजी हँस पड़े और बोले—"विदुरजी ! आप नित्य देखते हैं, फिर भी ऐसा प्रश्न करते हैं। एक ही स्त्री है उसे पति, पिता, पुत्र, भाई सब भिन्न-भिन्न भावनाओं से देखते हैं। बच्चा जिन मातृ स्तनों से स्नेहमय दुग्ध प्राप्त करते हैं, उन्हीं से पति किसी भिन्न वस्तु का रसास्वादन करता है। एक ही पृथ्वी है, उसमें आम बो दीजिये, मीठा फल लगेगा, नीम, आक, धतूरा बो दीजिये कड़वे फल लगेंगे। जो जैसा होता है, वह अपनी भावना के अनुसार वैसा ही वायुमण्डल पैदा कर लेता है और वैसी ही वस्तुओं का सृजन करता है। कर्ता योग और पात्र भेद से ही वस्तुओं में भेद होता है। गौ रूपी पृथ्वी तो एक ही थी किन्तु जैसा दुहने वाला हुआ, जैसा उसका पात्र हुआ जैसे बछड़े ने गौ को पुहनाया वैसा ही दूध उसके पात्र में आ गया।"

प्रसन्न होकर विदुरजी बोले—"महाराज ! समझ गया मैं। गुरुओं के बिना ऐसी बातों का रहस्य दूसरा कौन समझा सकता है। अब कृपा करके मुझे यह बताइये कि किस किसने, किसे-किसे बछरा बनाकर किस-किस प्रांत्र में, कैसा-कैसा दूध दुहा। यही सुनने की मेरी बड़ी इच्छा है।"

यह सुनकर भगवान् मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! सुनिये अब मैं आपको सब बातें बताता हूँ। मनुष्य ही इस पृथ्वी को अपने बाहुबल से वश में कर सकते हैं। अतः महाराज पृथु ने गौ रूपी पृथ्वी को अपने वश में किया। मनुष्य का मुख्य पात्र उनका हाथ ही है, अतः महाराज पृथु ने अपने हाथ रूपी पात्र में अपने पूर्वज मनु को बछरा बनाकर औषधि रूप दूध दुहा। जो मनुष्य अपने पूर्वजों के पथ का अनुसरण करते हुए बाहुबल से पुरुषार्थ करते हैं उन्हें वसुधा रूपी गौ सभी सम्पत्ति देती है, उन्हें रोटी लंगोटी का कभी घाटा नहीं रहता। अतः पृथु महाराज ने गेहूँ जौ चावल आदि जितने अन्न हैं सबको दुहा, मनुष्य

के प्रतिनिधि पृथु महाराज जब उसे दुह चुके तो फिर देवताओं की बारी आई। देवताओं के गुरु बृहस्पतिजी ने इन्द्र को बछरा बनाकर सुवर्ण के पात्र में वीर्य ओज और बल रूपी अमृत को दुहा। देवता जब तक गुरु के आश्रय में रहकर इन्द्र की भुजाओं से पालित होंगे तव तक उनमें मनोबल, इन्द्रियबल और शारीरिक बल रहेगा। जब वे अपने पथ को त्याग देंगे तो निर्बल हो जायँगे।

दैत्य दानवों ने अपने पूर्वज प्रह्लाद को वत्स बनाकर लोहे के पात्र में सुरा और आसव रूपी अन्न दुहा। असुरों का मुख्य आहार आसव ही है।

गन्धर्व और अप्सराओं का मुख्य आहार है सङ्गीत। नाचना, गाना और बजाना इन तीनों को मिलाकर ही सङ्गीत होता है। अतः इन लोगों ने गन्धर्वों में मुख्य विश्वावसु को बछरा बनाकर कमल-रूप पात्र में सङ्गीत की मधुरता और सुन्दरता रूप दूध को दुह लिया। पितरों ने अपना बछरा अर्यमा नामक पितर को बनाया। उन्होंने कच्चे मिट्टी के पात्र में पितरों को दिया जाने वाला काव्यरूप श्राद्धान्न नामक दूध दुहा।

जितने सिद्ध थे, विद्याधर थे, उन्होंने अपने वर्ग में मुख्य जो भगवान् कपिलदेव थे, उन्हें बछरा बनाकर आकाश रूपी पात्र में अष्टसिद्धियों तथा अन्तर्धानादि विद्याओं को दुहा। मायावी असुरों ने मय नामक अपने प्रधान मायावी असुर को बछरा बनाकर माया से विचित्र-विचित्र रूप बनाना आदि विद्याओं को गोरूपी पृथ्वी से दुहा।

जितने रुधिर पीने वाले यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, वेताल आदि हैं उन्होंने रुद्र को बछरा बनाकर कपाल के पात्र में रुधिर रूपी दूध दुह लिया। जितने विषैले जन्तु थे, फन वाले सर्प, बिना फन वाले, बिच्छु, ततैया, नाग आदि उन्होंने तक्षक नाग को बछड़ा बनाकर बिल रूप पात्र में विष रूप दूध को दुह लिया।

पशुओं ने सोचा भैया, हम किसे बछड़ा बनावें। तब उन्होंने कहा—"अरे, औरों ने तो कल्पित झूठा ही बछड़ा बनाया है, हमारे तो साक्षात् कामधेनु के सुत नन्दीश्वर वृषभ ही उपस्थित हैं अतः उन्होंने उनको ही बछड़ा बनाकर अरण्य रूप पात्र में घास पत्ता रूप दूध को दुह लिया। हिंसक जन्तुओं ने सोचा—"हम लोगों का काम तो घास पत्तों से चलने का नहीं। इसलिये चार पैर वाले जानवर होने पर भी हम अपना पृथक् वर्ग बनायेंगे। हम इस घास-फूस रूपी अन्न को नहीं स्वीकार करेंगे। अतः उन सबने सिंह को बछड़ा बनाकर अपने शरीर को ही पात्र बनाकर कच्चा मांस रूप दूध दुह लिया। पकाने का झंझट कौन करे। मारा और खाया।

पांख वाले पक्षियों ने गरुड़जी को बछड़ा बनाकर चर-अचर दो प्रकार का दूध दुहा। चर तो कीट पतङ्ग जीव जन्तु, अचर फल मूल आदि यही पक्षियों का आहार है। वृक्षों ने वट के वृक्ष को वत्स बनाकर अपनी जड़ रूप पात्र में रस रूप दूध दुह लिया। पर्वतों ने हिमालय को बछड़ा बनाकर अपने शिखर रूप पात्र में भाँति-भाँति की धातुओं को दुह लिया।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! अब हम आपको कहाँ तक गिनावें। यों समझ लीजिये कि जितने भी प्रकार के जन्तु हो सकते हैं, सभी अपने-अपने प्रधान को बछड़ा बनाकर अपने स्वभावानुकूल पात्र में अपनी प्रकृति के अनुरूप दूध दुह लिया जो जिसका आहार था, वह सभी पात्र और वत्स भेद से उन्हें मिल गया।

जब सब लोग दुह चुके, सभी को अपनी इच्छानुसार दूध मिल गया, तब गो रूपी धेनु ने कहा—"और किसी को तो कुछ नहीं चाहिये? इतने में ही एक लालची मनुष्य बोल उठा—'और भी आप जो दे दें।" हँसकर धरणी ने कहा—"लालची को चाहे

जितना मिल जाय, उसका कभी पेट न भरेगा। वह सदा भूखा ही बना रहेगा। सबकी तृप्ति मैं कर सकती हूँ, किन्तु लालची की तृप्ति करना मेरी शक्ति के बाहर की बात है।"

इस प्रकार जब पृथ्वी ने सभी को यथोचित आहार दे दिया तो महाराज पृथु पृथ्वी पर परम सन्तुष्ट हुए। उन्होंने कहा—"वसुधे ! तैंने मेरे यश का उसी प्रकार विस्तार किया, जिस प्रकार गुणवती-कुलवती सुशीला धर्मपरायण कन्या श्वसुर गृह में जाकर अपने मातृकुल की कीर्ति फैलाती है। इसलिये आज से तू मेरी पुत्री हुई।" इस बात को सुनकर पृथ्वी अत्यन्त सन्तुष्ट हुई और तुरन्त अन्तर्धान हो गई।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! तभी से पृथु की पुत्री होने के कारण भूमि का पृथ्वी नाम पड़ा। यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में आपसे पृथ्वी दोहन की कमनीय कथा कही। अब बताइये आप क्या सुनना चाहते हैं ?"

छप्पय

विश्वाबसु करि वत्स दुह्यो संगीत अप्सरनि।
कपिल वत्स नभ पात्र सिद्धि लीन्ही दुहि सिद्धनि॥
करे रुद्र वर वत्स भूत प्रेतादिक गणने।
लै कपाल ई पात्र दुह्यो रुधिरासव सबने॥
पात्र वत्सके भेदतें, दुग्ध सबनि अभिमत लयो।
तब पृथु ने पुत्री करी, पृथ्वी नाम तबहिँ भयो॥

महाराज पृथु द्वारा पृथ्वी का संस्कार

[२६४]

चूर्णयन् स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट् ।
भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १८ अ० २६ श्लोक)

छप्पय

ऊबड़ खाबड़ भूमि परी कहुँ पर्वत भारी ।
ऊची नीची कहूँ, कहूँ जङ्गल कहुँ झारी ॥
लैकें पृथुने धनुष करी चौरस सब वसुधा ।
गिरि उत्तर दिशि चुने करी खेतीकी सुविधा ॥
भूमि समान करि नृपति, घर पुर पत्तन रचे तब ।
पहिले हते न नगर पुर, इत उत तरुतर बसें सब ॥

आवश्यकता आविष्कार की जननी है और आवश्यकता उत्पन्न होना ही पतन है। जिसकी जितनी ही बढ़ी हुई आवश्यकतायें हैं, वह उतना ही अशान्त है, उतना ही दुखी है, किन्तु शरीर के साथ आवश्यकतायें लगी हुई हैं। शरीर प्राप्त भोगों से ही तो बनता है। शरीर मिला है तो भोग भोगने ही पड़ेंगे। भोग भोगने को उपकरण साधन भोग सामग्री भी चाहिये इसलिये जीव

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! अपने धनुष के अग्रभाग से राजराट् भगवान् पृथु ने पृथ्वी पर इधर-उधर बिना नियम के पड़े हुए पर्वतों को तोड़ फोड़कर इस भूमण्डल को प्रायः समतल बना दिया।"

प्रारब्धवश भोग सामग्रियों को जुटाता है और फिर उन्हीं में फँस जाता है। उन्हें सत्य मानकर उसमें ममता स्थापित करके अपने बन्धन को और दृढ़ करता है। काश्मीर की ओर एक रेशम का कीड़ा होता है। वह अपने मुख से रेशम निकालता जाता है और उसे अपने चारों ओर लपेटता जाता है। लपेटते-लपेटते वह भी उसके भीतर बन्द हो जाता है, निकल नहीं सकता। जब वह सब रेशम निकाल कर उसमें जकड़ जाता है, तो कीड़े पालने वाले उस गोल पिण्डी-सी को तोड़ लाते हैं, पानी में उबालते हैं। कीड़ा मर जाता है, रेशम के सूत को वे लोग निकाल लेते हैं। इसी प्रकार यह जीव, यह मेरा घर, यह मेरा परिवार, ये मेरे पशु, यह मेरा धन, ऐसे मेरा-मेरा करके ममत्व बढ़ाता है, संसार बन्धन को दृढ़ करता है। ये मिट्टी के बने पदार्थ न मेरे, न तेरे, ये सब बनाने वाले के हैं। कोई बड़ी उद्योगशाला है, शाला के स्वामी ने सेवकों के ठहरने को बहुत से भवन बना रखे हैं। सेवक इनमें रहें हमारा काम करें। सेवक उनमें रहते हैं, परस्पर में झगड़ते हैं, यह मेरा आँगन है, यहाँ तुम कैसे रह सकते हो, लड़ाई झगड़ा करते हैं। जहाँ कार्य बन्द हुआ, स्वामी सबको निकाल बाहर करता है, न मेरा रहा न तेरा। सारांश यह है कि वस्तुओं का जुटाना, बढ़ाना, भोग सामग्रियों में परिवर्तन करना यह उन्नति नहीं। यह तो विवशता है अवनति है। तमोगुण प्रधान लोग अधर्म को ही धर्म मानते हैं, अवनति को हा उन्नति के नाम से पुकारते हैं, पतन को ही उत्थान बताते हैं। इसी नाम का अविद्या है।

जब पृथ्वी दोहन की कथा सुन चुके तब विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! यह पृथ्वी दोहन की बात हमारी समझ में कुछ आयी नहीं। पृथ्वी दोहन के मानी क्या?" इस पर हँसकर मैत्रेय मुनि बोले—"अजी, विदुरजी! कैसी बात कर रहे हो, इसमें न समझ में आने वाली बात कौन-सी है। इस रूपक का सरल अर्थ यह

है कि महाराज पृथु ने पृथ्वी को इतनी सरल सीधी गौ की भाँति बना दिया कि सभी को इससे अपना-अपना आहार मिलने लगा। कोई आदमी बहुत सीधे-सादे सरल होते हैं तो कह देते हैं कि नहीं, ये तो भाई, गौ हैं। सीधे सरल उदार पुरुषों से ही सबकी वृत्ति चलती है, जो कृपण हैं, अनुदार हैं वे तो जो आया धरि गुल्लक में ही करते रहते हैं। उन्हें दूसरों के आहार की चिन्ता नहीं। अपनी थाती बढ़े। महाराज पृथु तो उदारमना थे, अतः उन्होंने सबको आहार पहुँचाया। जैसे पिता पुत्री पैदा करके उसे पालता-पोषता है। जब बड़ी हो जाती है तो वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके यथाशक्ति द्रव्य के सहित उसे सत्पात्र को दान कर देता है। उसका यह कार्य परउपकार के लिये है। दूसरे के घर को बसाने के लिये, दूसरे के वंश की वृद्धि के लिये वह कन्या को पालता है। इसी प्रकार महाराज पृथु ने उसे अपने वश में करके सबके लिये दुहा। सबकी आजीविका का प्रबन्ध किया। इसीलिये पृथ्वी उनकी पुत्री कहलाई। उनके नाम को बढ़ाने वाली हुई।"

विदुरजी ने कहा—"हाँ, महाराजजी! ठीक है, अब समझ में बात आ गयी। हाँ तो फिर महाराज पृथु ने अपनी पुत्री पृथ्वी का कैसे पालन किया?"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! महाराज पृथु से पूर्व यह पृथ्वी बड़ी ऊबड़-खाबड़ थी। कहीं एक-सी समतल भूमि नहीं थी। कहीं पहाड़ है, कहीं ऊँचा है, कहीं नीचा है। कहीं गड्ढा है, कहीं खाईं हैं, कहीं टीले हैं, कहीं घना वन है, कहीं चारों ओर गहन झाड़ियाँ लगी है। प्रतापवान महाराज पृथु ने अपना धनुष उठाया। धनुष पर बाण चढ़ाकर पहाड़ों को तोड़-फोड़ डाला। सोचा, इस पृथ्वी को सुन्दर समतल बना देना चाहिये। इसलिये जितने पहाड़ थे, सबको उठाकर उन्होंने उत्तर दिशा में रख दिया। शिवजी से कह दिया—"महाराज! आप बहुत ऊबड़-

खाबड़ वस्तुओं को चाहते हो। आप औघड़दानी ही ठहरे। आक धतूरे को आप चबा जाते हो, इसलिये इस ऊबड़-खाबड़ भूमि में आप ही निवास करो।" शिवजी ने कहा—"अच्छा भैया! जो किसी के काम की वस्तु न हो वह हमारे काम की। देवताओं ने अमृत निकाला तो हमें बुलाया भी नहीं, जहर हमारे मत्थे मढ़ दिया। अच्छी बात है, तुम एक द्वार बना दो। उसके नीचे सम भूमि उसके ऊपर विषम भूमि रहे। जहाँ ऋषि, मुनि, जङ्गली, कोल-भील, शक, हूण ये ही सब लोग रहें।"

महाराज पृथु ने शिवजी के नाम से ही एक द्वार बना दिया जिसे 'हरद्वार' कहते हैं। हरद्वार से ऊपर पहाड़ रहे। नीचे-नीचे समतल भूमि वाला देश रहा। इस प्रकार सभी पहाड़ों को तोड़-फोड़कर उन्होंने भूमि को उपजाऊ बना दिया। जहाँ-जहाँ उनका रथ गया, वहाँ-वहाँ तो भूमि सम हो गई, किन्तु जहाँ भूल से कुछ छूट गया या जहाँ किसी मुख्य देवता का मन्दिर तीर्थ देखा उसे महाराज पृथु ने छोड़ दिया। इस प्रकार प्रायः सम्पूर्ण पृथ्वी को ही उन्होंने एक-सी कर दिया ?"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"महाराज! प्रायः क्यों लगाते हैं। कहीं-कहीं उन्होंने ऊबड़-खाबड़ पृथ्वी को क्यों छोड़ दिया ? महाराज पृथु तो सर्वज्ञ थे उनसे भूल तो हो नहीं सकती। फिर सब भूमि को एक-सी क्यों नहीं किया ?"

इस पर हँसकर मैत्रेयजी बोले—"अब, विदुरजी! कुछ बानगी के लिये भी तो छोड़ना चाहिये, जिससे लोग अनुमान कर सकें कि पहिले ऐसी पृथ्वी थी। दक्षिण में ऐसी मिलती है। कुछ अपने स्थान को सभी में ममत्व होता है। महाराज पृथु की राजधानी गङ्गा यमुना के मध्य में ब्रह्मावर्त प्रदेश में थी, इसलिये इस भूमि को उन्होंने इतनी सुन्दर समतल बना दी कि इसमें हरिद्वार के नीचे कहीं न पहाड़, न टीला, न ऊबड़, न खाबड़। सुन्दर चौरस

भूमि है। इतनी सुन्दर उपजाऊ, उर्वरा भूमि संसार में कहीं भी नहीं है। फिर भी आपको पृथु महाराज के पूर्व की भूमि देखनी हो तो जहाँ चर्मण्वती नदी (चम्बल) का श्रीयमुनाजी से सङ्गम हुआ है। (इटावे से आगे) वहाँ की भूमि को आप देखेंगे। वहाँ १०–१५ योजन तक वैसी ऊबड़-खाबड़ भूमि अब तक पड़ी है। उसमें ग्राम नहीं, नगर नहीं, खेती-बारी नहीं। कहीं-कहीं ग्रामीणों ने खोद-खादकर पहाड़ों की भाँति छोटे-छोटे खेत बना लिये हैं। प्रतीत होता है पृथु महाराज का रथ वहाँ तक पहुँचा नहीं था। श्रीबदरीनाथजी से कैलाश तक पहाड़ों के पश्चात् समतल भूमि तो बहुत है, किन्तु उसमें खेती-बारी कुछ नहीं होती। पेड़ भी नहीं, मरु भूमि की भाँति पड़ी रहती है। ऐसे ही और भी स्थान हैं, उन्हें महाराज ने बानगी के लिये छोड़ दिया।

अब जब भूमि सम हो गयी तब तो लोगों ने पत्थरों को इकट्ठा करके घर बनाने आरम्भ कर दिये। जहाँ पत्थर नहीं रहे वहाँ मिट्टी की ईंटे बनाकर उन्हें अग्नि में पकाकर उसी के घर बनाने लगे। जहाँ ये भी सुविधाएँ नहीं थीं वहाँ मिट्टी में पानी मिलाकर उसी के कच्चे घर बनाने लगे, उन्हें पेड़-पत्तों से पाटने लगे। बहुत से घास फूस के छप्पर बनाकर उन्हीं में निर्वाह करने लगे। इस प्रकार खेट, खर्वट, ग्राम, पुर, नगर, किले कोल भीलों के आवास बनने लगे। कुछ लोग १०–२० गाँव के शासक बनकर अपनी रक्षा के लिये छोटे-छोटे किले बनाने लगे। सेना रखने लगे। पर्वतों से सोना, चाँदी, ताँबा, राँगा आदि धातुओं को निकालने लगे। बाजार बनने लगे, क्रय-विक्रय आरम्भ हुए। महाराज पृथु से पहिले पृथ्वी पर पुर, ग्रामादिकों की कल्पना नहीं थी। लोग जहाँ-तहाँ पहाड़ों की खोहों में वृक्षों के नीचे निवास करते थे।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह आपने क्या कहा महाराज पृथु से पहिले सब असभ्य ही लोग पृथ्वी पर बसते थे?

वे सब पिछड़े हुए अवनत जङ्गली ही आदमी थे ? यह जो सब उन्नति हुई है, सब महाराज पृथु के ही पश्चात् हुई है ?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज ! आप पहिले सभ्य-असभ्य की व्याख्या कर दें। उन्नति-अवनति किसे कहते हैं यह बता दें तो मैं फिर आपकी बातों का उत्तर दूँ ?"

शौनकजी बोले—"सूतजी ! यह तो मेरी-सी बात है, सभ्य वही जो अच्छे सुन्दर बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहिने, भाँति-भाँति के स्वादिष्ट पदार्थों को नित्य अनेक बार खाय। जिसके टहलने-बैठने का समय हो। बहुत-सी पुस्तकों को पढ़े, संसार भर के समाचारों को जाने, सब विषयों की जानकारी रखे वही सभ्य है। इसके जो विपरीत हो, कम कपड़ा पहिने, साधारण मकानों में वृक्षों के नीचे निर्वाह करे, कम-से-कम वस्तुओं का संग्रह करे वही असभ्य। इसी प्रकार नित्य नई वस्तुओं का आविष्कार होते रहना सभ्यता है और पुरानी चाल-ढाल रहन-सहन को अपनाना ही असभ्यता है।"

यह सुनकर सूतजी खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—"महाराजजी, मालूम होता है आप कलियुगी सभ्य लोगों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। महाभाग ! सभ्यता-असभ्यता, उन्नति-अवनति का सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं से नहीं मन से है। यही नहीं, आपने जिसे सभ्यता बताया है, वास्तव में वही असभ्यता है, जिसे आपने उन्नति बतायी है, वास्तव में वही अवनति है। ज्यों-ज्यों मनुष्यों की स्वाभाविक सिद्धियाँ कम होती जाती हैं, त्यों-ही-त्यों भौतिक वस्तुओं का आश्रय लेता जाता है, अपने को अधिकाधिक कर्त्ता मानता जाता है। जो जितना ही भौतिक वस्तुओं के आश्रित होगा वह उतना ही असभ्य समझा जायगा।

शौनकजी ने पूछा—"वह कैसे ? इसे विस्तार से समझाइये।"

सूतजी बोले—"देखिये, प्राचीन काल में आदि सतयुग में

सभी को स्वाभाविक सिद्धियाँ प्राप्त थीं। भूख लगी, वृक्षों से फल तोड़ लिये, खा लिये। उस समय न कोई वस्तु अपनी, न पराई। न किसी को सरदी सताती थी, न गर्मी दुःख देती थी। सब स्वच्छन्द होकर जहाँ चाहते विचरते, जहाँ चाहते सो जाते। सभी अपना ही था। जब शनैः-शनैः समय के प्रभाव से वह शक्ति नष्ट होने लगी तो लोगों को अपने योगक्षेम की चिन्ता होने लगी। कुछ वृक्षों की परिधि बाँध ली उनमें अपनापन किया, पानी देने लगे, उसके फल बढ़ाने का उद्योग करने लगे। फलों से काम न चला तो औषधियों की खोज करने लगे। जब समय पर कभी न मिलीं तो उनके बीज रखने लगे। फिर उन्हें खेतों में बोने लगे कृषि करने लगे। यह उन्नति नहीं अवनति हुई।

पहिले कोई वस्त्र नहीं पहनते थे, आवश्यकता ही नहीं थी, सरदी गरमी सहने की स्वाभाविक शक्ति थी। वह शक्ति समय की गति से नष्ट होने लगी। लोग सरदी-गरमी सहन करने में समर्थ न हुए। वृक्षों के वल्कल उतारकर पहिनने लगे। उनसे भी काम न चला तो कपास का पेड़ देखकर उसके बीज बोने लगे। रुई निकालकर उसके वस्त्र बनाने लगे। एक ऊपर का एक नीचे का सब दो वस्त्र पहिनते थे। धीरे-धीरे इतने से भी काम न चला, फिर तो क्रमशः भाँति-भाँति के वस्त्र बनने लगे। ये भाँति-भाँति के वस्त्रों का आविष्कार उन्नति नहीं अवनति है।

पहिले नदियों में से जहाँ से चाहते थे लोग पानी पी लेते थे। कुछ लोग नदियों से दूर रहने लगे। बराबर वहाँ जाने में आलस्य करने लगे। पास में ही कुआ बनाने लगे। मिट्टी के घड़े बनाकर उसे पकाने लगे, उसमें पानी रखने लगे, वे जब फूट जाते तब अन्य धातुओं के घड़े बनाने लगे। इतने से भी कार्य न चला तो लोहे की नलिका लगाकर घर-घर में जल-वाहक स्रोत लगाने

लगे। एक स्थान पर जल-संग्रह करके यन्त्रों द्वारा घर-घर पहुँचाने का प्रयत्न किया। यह उन्नति नहीं अवनति है।

पहिले लोग जब चाहते स्वर्ग जाते, फिर जब चाहते पृथ्वी पर लौट आते। शनैः-शनैः देवताओं ने ईर्ष्यावश मनुष्यों की यह शक्ति नष्ट कर दी। तब लोग मरकर ही स्वर्ग जाने लगे। स्वर्ग जाना तो बन्द हो गया, किन्तु जहाँ चाहते वायुवेग से पैदल चले जाते। ऋषियों! और युगों की बात तो छोड़ दीजिये। मैंने कलि-युग में अभी अपनी आँखों देखा था। संसतक देश (बुलन्दशहर के आस-पास) से इन्द्रप्रस्थ लगभग ३०, ३५ कोश है। एक व्यापारी नित्य प्रति पैदल जाता था। अपनी वस्तुएँ बेचकर शाम को घर लौट आता था। जब लोग निर्बल हो गये, इतने दूर चलने में असमर्थ हुए तो घोड़ों पर, ऊँटों और हाथियों पर दौड़कर जाने लगे। उन पर भी कष्ट प्रतीत हुआ तो रथ बनाये। विविध वाहन बनाये। फिर सजीव वाहनों से भी काम न चला तो निर्जीव वाष्प आदि की सहायता से बड़े-बड़े वाहन बनाये गये। नित्य नूतन वाहनों का आविष्कार होना मनुष्य की उन्नति का द्योतक नहीं है, उसकी निर्बलता और पराधीनता का द्योतक है।

पहिले लोग सङ्कल्प से समुद्रों को पार कर जाते थे। जब यह शक्ति नष्ट हो गई तो घड़ों की घरनी बाँधकर पार होने लगे, उससे भी काम न चला तो लकड़ी की नौकायें बनाने लगे। फिर लोहे के पोत बनाने लगे, वायु के अनुकूल होने से पाल के द्वारा चलने लगे। जब और भी जल्दी पड़ी तो वाष्प के यन्त्रों द्वारा दौड़ाये जाने लगे यह उन्नति नहीं अवनति है।

पहिले विवाह आदि की प्रथा नहीं थी। जो चाहे जिससे सन्तान उत्पन्न करा ले। जब आपस में एक स्त्री-पुरुष के पीछे लड़ाई-झगड़ा होने लगा तो लोगों ने नियम बना लिया, एक पुरुष की एक ही स्त्री हो। विवाह-प्रथा चालू हुई, फिर इसमें भी लोग

ऊधम करने लगे। तब और कड़े-कड़े नियम बने और भी विधान बने। फिर तो स्त्री-पुरुषों में भी झगड़े आरम्भ हुए। स्त्रियाँ अपना अलग अस्तित्व जताने लगीं। वे अर्धाङ्गिनी न होकर विवाह का सौदा करने लगीं। ऐसा करो तो मैं तुम्हारी बहू, ऐसा न करो तो हमारी तुम्हारी कुट्टी। अब परित्याग विधान बनने लगे। स्त्री अपने पति का परित्याग करके अन्य पतियों का वरण करने लगीं। उससे भी न पटी तो तीसरे से साँठ-गाँठ जोड़ ली। उससे भी मन-मुटाव हुआ तो न्यायालय में प्रार्थना-पत्र देकर किसी अन्य का द्वार खटखटाया। इस प्रकार अनेक पत्तलों की जूठन खाते फिरना, नित्य नये-नये पतियों की चिन्ता करते रहना, यह उन्नति नहीं अवनति है। उत्थान नहीं पतन है। सभ्यता नहीं असभ्यता है।

पहिले वर्णाश्रम धर्म नहीं था, सब एक ही वर्ण के लोग थे। सभी हंस के सदृश निर्मल चित्त वाले थे। जब परस्पर में मैं छोटा तू बड़ा, यह काम मेरा है, यह तू नहीं कर सकता, यह बात हुई तो वर्णों की कल्पना हुई। पहिले चार वर्ण बने, फिर उनके संयोग से सङ्करता होने पर अपवर्ण बने। फिर एक अन्तिम अन्त्यज वर्ण हुआ। ऐसे फिर अनेक वर्ण बने सबकी वृत्ति निश्चित हुई। लोगों में झगड़ा हुआ। एक दूसरे पर आक्षेप करने लगे, इस प्रकार यह विषमता यहाँ तक फैली कि एक दूसरे को मारने-पीटने दूसरे का धर्म नष्ट करने उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न करने लगे। यह कलह उन्नति नहीं अवनति है।

पहिले लोग स्वाभाविक शक्ति से जहाँ चाहे उड़ जाते थे। जब यह शक्ति नष्ट हुई तो लोग देवताओं की आराधना से विमान प्राप्त करके उड़ने लगे। जब देवताओं को प्रसन्न करने में भी असमर्थ हुए तो पारद आदि धातुओं को फूँककर उनसे विमान बनाने लगे। उसके फूंकने में भी असुविधा प्रतीत हुई तो वाष्प स्निग्धता

आदि के संयोग से उड़न विमान बनाने लगे। इन विमानों का बाहुल्य उन्नति का चिह्न नहीं है घोर पतन का चिह्न है।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आप सबको पतन ही बता रहे हैं। आप यह नहीं सोचते कि इन आविष्कारों से यात्रा कितनी सुगम हो गयी है। कितना समय का बचाव हो गया है पहिले जो यात्रा वर्षों में होती थी वह अब कुछ प्रहरों में समाप्त हो जाती है। इसे आप अवनति क्यों कह रहे हैं ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! समय तो निरवधि है, उसे तो न कोई कम कर सकता है न अधिक। देखना यह है कि इन उपायों से सद्वृत्तियों का विकास हुआ या सङ्कोच। पहिले यात्राओं में कितने अनुभव होते थे, कितनी शूरता-वीरता आती थी, अपने प्रेमियों को रोज कितनी उत्कण्ठा बढ़ती थी। चिरकाल की प्रतीक्षा के पश्चात् मिलने से हृदय में कितना आह्लाद आनन्द होता था। अब वह कुछ नहीं। साधारण बातें हो गयीं। लोगों के सद्गुणों का इन आविष्कारों से दिन-दिन ह्रास हो रहा है। भगवान् का विश्वास कम होता जा रहा है, लोग शुष्क, हृदयहीन स्वार्थी, पर पीड़क, इन्द्रिय-लोलुप होते जा रहे हैं।"

उस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यदि नङ्गा रहना, बिना घर बार के घूमना, विवाह बन्धन न होना ये ही सब उन्नति के चिह्न हैं तब तो यह जङ्गली सबसे अधिक उन्नत हैं।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाभाग ! उन्नति का सम्बन्ध इन बाह्य वस्तुओं से नहीं है, यह मैं पहिले बता चुका हूँ। घोर सत्व की ओर घोर तप की। घोर उन्नति की ओर अवनति की, परमज्ञानी की, महामूर्ख की बाहर से देखने में एक-सी स्थिति होती है, किन्तु उसके अन्तस्थल में बहुत भेद है कि एक ज्ञानी भी मूर्खों की भाँति रहता है जहाँ चाहे खाता पीता है और इच्छानुसार बर्ताव करता है, एक महामूर्ख भी ऐसा ही करता है

दोनों की बाहर से एक-सी दशा दीखने पर भी भीतर से भारी भेदभाव है। एक आत्मतृप्त है दूसरा अज्ञान से अशान्त है। कलि-युगी लोग अवनति को ही उन्नति कहेंगे। जब तक हम जिस वस्तु को अच्छा न समझें तब तक उसमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी। कलि-युगी लोग विवाह बन्धन, धर्म, कर्म, वर्णाश्रम व्यवस्था इन सबको ढोंग कहेंगे। ज्ञान से नहीं, अज्ञान से, कर्म से नहीं अधर्म से, सत्वगुण की पराकाष्ठा के कारण नहीं, तमोगुण के वशीभूत होकर ऐसा व्यवहार करेंगे। उसे धर्म मानकर प्रचार करेंगे। वास्तव में लोग जिसे उन्नति कहते हैं, वह हमारी निर्बलता का चिह्न है। आँखों में शीशा चढ़ाकर हम यह सिद्ध करना चाहते हैं, हम पढ़े लिखे हैं, किन्तु यह पता नहीं कि आँखों पर शीशा चढ़ाना दृष्टि की न्यूनता, ज्योति की क्षीणता, ब्रह्मचर्य के अभाव का द्योतक है। हमारी शक्ति का ह्रास है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"हाँ, सूतजी ! आपकी बात ठीक है, किन्तु यह बताइये। महाराज ध्रुव उत्तानपाद के भी तो महल थे, नगर थे, फिर आप यह कैसे कहते हैं, ग्राम नगर की प्रथा पृथु महाराज के ही राज्य से प्रचलित हुई।"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! पहिले भी नगर किले आदि थे, किन्तु वे दिव्य होते थे,स्वर्गीय विमानों के सदृश विशिष्ट, विशिष्ट व्यक्तियों के ही यहाँ होते थे। महाराज पृथु के राज्य से साधारण प्रजा के लोग भी घर, द्वार, उद्यान, भवन, नगर, ग्राम बनाकर रहने लगे। नियमानुसार नगर, समितियाँ बनीं,स्वच्छता-रक्षा आदि के भी प्रबन्ध हुए। राजपथ सड़कें बनीं नियमानुसार प्रान्त उपरान्त राजधानियाँ बनीं। वर्तमान समय के जो विधान हैं उनका सूत्र-पात्र महाराज पृथु के ही समय से हुआ वह आदि सतयुग के पश्चात् का त्रेता युग था। लोगों की स्वाभाविक शक्ति नष्ट होने पर ये सब व्यवस्थायें आरम्भ हुईं। अब जिस प्रकार

महामुनि मैत्रेय ने भगवान् पृथु का आगे का चरित्र विदुरजी को सुनाया था, उसे मैं आपसे कहूँगा। भगवान् के अंशावतार पृथु के चरित्र को आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

रचे नगर अरु ग्राम भवन, गृह अटा अटारी।
वापी, कूप, तड़ाग राजपथ अति सुखकारी॥
नगरनि सीमा बनी पृथक सब प्रान्त बनाये।
मण्डलीक भूपाल सबनिके दुर्ग सुहाये॥
करी व्यवस्था सबहिँ विधि, दुःख सबनिके मिट गये।
राज्य नियामक नृपति पृथु, आदि राज भू के भये॥

महाराज पृथु की यज्ञ दीक्षा

[२६५]

अथादीक्षत राजा तु हयमेधशतेन सः ।
ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १८ अ० १ श्लोक)

छप्पय

वर्णाश्रमकी मिटी व्यवस्था थापित कीन्हीं ।
वे सब करिके काज यज्ञ शत दीक्षा लीन्हीं ॥
बहे सरस्वति जहाँ, पुण्यप्रद भूमि सुहावन ।
गङ्गा यमुना मध्य ब्रह्मऋषि सेवित पावन ॥
मख पूजा त्रेता कहीं, अश्वमेध तातें करहिँ ।
कालक्षेप करि देहिँ सिख, करहिँ अनुकरण भव तरहिँ ॥

सभी युगों में सर्वत्र, सब समय श्रीहरि ही पूजनीय वन्दनीय माने गये हैं, किन्तु देश, काल और पात्र भेद से पूजा के प्रकार में कुछ अन्तर हो जाता है। कोई ऐसा देश है, जहाँ पूजा की बहुत-सी सामग्रियाँ प्राप्त नहीं हो सकतीं, वहाँ यथा लब्धोपचारों द्वारा ही पूजा सम्पन्न की जा सकती है। पात्र के कारण भी पूजा में भेद हो जाता है। कोई निर्धन है, उसे अधिक सामग्री

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! पृथ्वी आदि की व्यवस्था करने के अनन्तर महाराज पृथु ने सौ अश्वमेध यज्ञों के उस मनुक्षेत्र ब्रह्मावर्त में दीक्षा ली, जहाँ कि प्राची सरस्वती हैं।"

जुटाने की सामर्थ्य नहीं। वह यदि एक पत्र तुलसी दल, एक चुल्लू जल ही श्रीहरि को अर्पण करता हैं तो सर्वान्तर्यामी प्रभु उसी से प्रसन्न हो जाते हैं। इसके विपरीत जो वैभवशाली है, धन सम्पत्ति वाला है वह यदि वित्तशाठ्य के कारण कम धन व्यय करता है पूजा के पदार्थों को एकत्रित करने में कुछ भी कञ्जूसी करता है तो उसकी वह पूजा भावहीन और दूषित समझी जाती है।

इसी प्रकार प्रत्येक युग की एक विशिष्ट पूजा पद्धति भी होती है। सतयुग में ध्यान ही भगवत् प्राप्ति का, उनकी पूजा का प्रधान साधन माना जाता था। ध्यान के द्वारा हरि आराधना भगवत् स्मरण लोग करते थे। त्रेतायुग में यज्ञयाग ही हरि अर्चा के प्रधान साधन माने गये। द्वापर में भगवान् यज्ञ पुरुष की परिचर्या पूजा, वैदिक तान्त्रिक मन्त्रों द्वारा उनकी आराधना की जाती थी। कलियुग में केवल भगवन्नाम सङ्कीर्तन ही सरल, सुगम, सरस और सर्वोपयोगी सर्वश्रेष्ठ साधन है। इस युग में भगवन्नाम सङ्कीर्तन के अतिरिक्त दूसरे साधन सरलता से साङ्गोपाङ्ग होना अत्यन्त कठिन है। भगवन्नाम सङ्कीर्तन में कोई नियम नहीं मर्यादा नहीं सभी लोग, सभी समय, सर्वत्र बिना भेद-भाव के भगवन्नाम सङ्कीर्तन द्वारा इस असार-संसार को बात-की-बात में पार कर सकते हैं। जो अपने युगों के अनुरूप साधन करते हैं उन्हें शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब महाराज पृथु भूमि को सब व्यवस्था कर चुके, सर्वत्र लोग, नगर, पुर, ग्राम बनाकर बसने लगे। ऊबड़-खाबड़ भूमि सम हो जाने से उसमें खेत बनाकर लोग सरलता से कृषि करके, अन्नादि उत्पन्न करके, यज्ञ-यागादि धर्म-कर्म करने लगे, तब महाराज पृथु को बड़ा हर्ष हुआ। वे कृत-कृत्य हो गये, उन्होंने प्रजा की सभी असु-

विघाओं को दूर कर दिया, भूमण्डल पर उनके समान कोई दूसरा राजा तो था ही नहीं जिसे जीतने या युद्ध करने की तैयारियाँ करते। सभी उनके अधीन थे। सात द्वीप नौ खण्ड में सर्वत्र उनकी आज्ञा मानी जाती थी। जब इन कामों से वे निवृत्त हो गये तो यमुना के मध्य की अपनी परम पावन राजधानी में उन्होंने १०० अश्वमेध यज्ञों की एक साथ ही दीक्षा ली। गङ्गा-यमुना के मध्य की यज्ञीय भूमि सबसे श्रेष्ठ समझी जाती है। समस्त ब्रह्मर्षि इसी अति पावन भूमि का सदा से आश्रय लेते रहे हैं, अतः इस देश को ब्रह्मर्षि देश भी कहते। जहाँ प्राची सरस्वती गुप्त रूप से आकर गङ्गा के सङ्गम प्रयाग में मिली हैं, इसी गङ्गा-यमुना के सङ्गम को त्रिवेणी सङ्गम कहते हैं। ऐसा तो यज्ञ करने को उत्तम देश था, आदि त्रेतायुग का सर्वश्रेष्ठ काल था, साक्षात् श्रीहरि के अंशावतार महाराज पृथु उस यज्ञ के कर्ता सत्पात्र यजमान थे। जहाँ देश, काल और पात्र तीनों ही श्रेष्ठ हों, वहाँ यज्ञ में किसी प्रकार की त्रुटि रह नहीं सकती। अतः महाराज के यज्ञ बड़ी धूम-धाम से होने लगे।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज पृथु तो भगवान् के अवतार ही थे। उन्हें किसी सांसारिक वस्तु की कमी नहीं थी, स्वर्ग उनके लिये तुच्छ है, मुक्ति की उन्हें क्या इच्छा हो सकती है, वे तो स्वयं ही मुक्त हैं, फिर उन्होंने इतना आडम्बर क्यों किया। एक अश्वमेध यज्ञ में ही कितनी सामग्रियाँ जुटानी पड़ती हैं। कितने बखेड़े करने पड़ते हैं, फिर आपके कथनानुसार महाराज ने तो १०० यज्ञों की एक साथ ही दीक्षा ली। इतना आयास क्यों किया। किस कामना से उनकी इस विधिबाहुल्य कार्य में प्रवृत्ति हुई?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और फिर गम्भीर होकर बोले—"अच्छा महाराज! आप ही बतावें वे यज्ञ न करते तो क्या करते?

उनकी आयु बहुत थी, चिरकाल तक उन्हें पृथ्वी पर रहना था, अपना कालक्षेप कैसे करते। श्रेष्ठ पुरुष जो कार्य करते हैं, अन्य साधारण लोग उन्हीं का अनुकरण किया करते हैं। बड़े लोग जिस बात को प्रमाण मान लेते हैं अन्य लोग उन्हीं का अनुवर्तन करते हैं। समय तो उन्हें बिताना ही था, वह समय यदि भगवत् चिन्तन में, परमार्थ साधन में बीते तो सर्वश्रेष्ठ है। आचार्य वही कहलाता है, जो शास्त्रों से आचरणीय उपदेश को चुनकर प्रकाशित करे और स्वयं उनके अनुरूप आचरण भी करे। इसीलिये महाराज पृथु ने यज्ञों द्वारा उन अखिलात्मा श्रीहरि की उपासना करके अपने समय का सदुपयोग किया।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"यदि भगवान् की आराधना ही करनी थी तो एकान्त में जप-तप करते, इतने आडम्बर की क्या आवश्यकता थी ?"

सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज ! यह आप ठीक कहते हैं, जब तप से भी भगवान् की आराधना होती है और वह भी भगवान् पृथु ने की थी, किन्तु त्रेतायुग में यज्ञ-याग ही प्रधान साधन माने गये हैं। वह यज्ञ बाहुल्य युग माना जाता है, अतः युगानुसार साधनों द्वारा जो अखिलेश की आराधना की जाती है वह श्रेष्ठ और अनुकरणीय मानी जाती है। रही बखेड़े की बात, जिनके समीप सदा अष्ट सिद्धि, नव निधि हाथ बाँधे खड़ी रहती हैं, जो सामर्थ्यवान् हैं, उन्हें बखेड़ा ही क्या ? उनके संकेत मात्र से सभी वस्तुएँ एकत्रित हो जाती हैं। रही यह बात कि इन महायज्ञों में अश्व आदि की बलि दी जाती है, हिंसा होती है। सो, शास्त्रीय विधि का तो पालन करना ही पड़ता है। सर्वथा हिंसा रहित तो कोई कार्य ही नहीं। चलने में हिंसा, बैठने में हिंसा, झाड़ू देने में, भोजन बनाने में, यहाँ तक साँस लेने तक में हिंसा है। इस विषय में शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्र जो कहें वही

विहित है, शास्त्र जिसकी निन्दा करे वही निन्दित कर्म है। अतः शास्त्र को प्रमाण मानकर उनके बताये उपायों द्वारा देश, काल और पात्र का बलाबल देखकर सदा सर्वदा हरि-स्मरण में ही समय को बिताना यही समय का सदुपयोग कहलाता है। इसी को शास्त्रीय कालक्षेप कहते हैं। महाराज पृथु इसीलिये निरन्तर एक के पश्चात् दूसरा और दूसरे के पश्चात् तीसरा इस प्रकार यज्ञ करने लगे। १०० अश्वमेध करने का उनका सङ्कल्प था। महाराज के यज्ञ कराने वाले बड़े-बड़े वेद की विधि को जानने वाले अत्रि आदि महर्षि थे।

स्वयं महाराज पृथु जिन यज्ञों को करने वाले हों, ब्रह्माजी के मानस पुत्र भगवान् अत्रि जिन यज्ञों के कराने वाले हों, सम्पूर्ण प्राणी जिन यज्ञों में तन, मन, धन से सहायता करने वाले हों, उन यज्ञों की पूर्णता के विषय में तो किसी प्रकार का सन्देह हो ही नहीं सकता। महाराज पृथु के यज्ञ अन्य साधारण राजाओं के यज्ञों के समान नहीं थे। वे यज्ञ अपने समय के असाधारण यज्ञ थे। इतने से ही आप समझें कि उन यज्ञों में स्वयं साक्षात् श्रीहरि पधारे थे। जहाँ श्रीहरि ही पधार जायँ, वहाँ फिर पधारने को शेष रह ही कौन जाता है भगवान् अकेले ही गरुड़ पर चढ़कर चले आये हों, यह बात नहीं। वे बड़े ठाट-वाट से पधारे थे। भगवान् के मुख्य पार्षद नन्द-सुनन्द जिनके ऊपर छत्र-चँवर कर रहे थे। गन्धर्व जिनके गुणों का गान कर रहे थे। अप्सरायें हाव-भाव के सहित मनोहर नृत्य कर रही थीं। ऋषि-मुनि जिनकी विरुदावली का वखान कर रहे थे। आठों लोकपाल जिन्हें चारों ओर से घेरे हुए थे। सिद्ध, विद्याधर, दैत्य, दानव, गुह्यक जिनके पीछे-पीछे चल रहे थे। नारद, कपिल, दत्तात्रेय, सनक, सनन्दन, सनातन और सनतकुमार आदि योगेश्वरगण जिनकी सेवा में

तत्पर थे। इस प्रकार बड़ी सज-धज से सबके अन्तरात्मा, जगद्-गुरु, समस्त यज्ञों के अधिपति अखिलात्मा भगवान् विष्णु उन यज्ञों में पधारे थे।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! उन यज्ञों के ऐश्वर्य का अब मैं आपसे वर्णन किस प्रकार करूँ। आप इसी से अनुमान लगा लें कि सभी वस्तुओं को उत्पन्न करने वाली भगवती वसुन्धरा जिनकी पुत्री बनकर साकार रूप से सेवा कर रही हों उस यज्ञ में कमी किस वस्तु की रह सकती है। चर-अचर सभी प्राणियों ने उन यज्ञोत्सवों में यथाशक्ति सहयोग दिया। जितने नदी, नद, पर्वत, वृक्ष थे उनके अधिष्ठातृ देव मूर्तिमान होकर उन यज्ञों में आये थे और अपने हाथों से, भृत्यों के समान यज्ञ में आने वाले लोगों की सेवा शुश्रूषा करते थे। नदियाँ अपने आप दूध, दही, खीर, मट्ठा, मक्खन, मलाई बहाकर लाती थीं। जो जितना चाहो पीओ। वृक्षों ने मीठे-मीठे मधुमय इतने फल गिराये कि मुँह में रखते ही मिश्री की भाँति घुल जायँ, गुठली छिलके का काम नहीं। बिना बीज के पक्के अंगूर की भाँति, खाते ही जाओ। तोड़ने की भी आवश्यकता नहीं, मुँह ऊपर करो, रस से मुँह भर जाय। गटकते चलो गटागट। समुद्र भी वहाँ शरीर रखकर आये थे, वे इतने रत्न मूँगा मोती लाये थे कि चारों ओर बिखरते फिरते थे, उन्हें कोई पूछने वाला नहीं। पर्वत अपनी खोहों में भर-भरकर भोक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य, पेय सभी प्रकार के अन्न लाये थे। निरे मालपुआ ही उड़ाओ, या बालूसाइयों से ही पेट भर लो, या खीर का ही सपोटा लगाओ। लोकपाल इतने उपहार लाये कि रखने को स्थान ही नहीं रहा। सो विदुरजी! ९९ यज्ञ तो यों ही बड़ी धूमधाम से हुए। अब १०० वें यज्ञ का समाचार सुनिये।"

छप्पय

होहिँ यज्ञ अति विशद करें सुरगन सब सेवा ।
देहिँ वृक्ष बहुमूल्य फूल फल मधुमय मेवा ॥
दूध, दही, घृत, तक्र, खीरि सरिता सब लावें ।
रुचि प्रिय परम पदार्थ प्रेमतें पण्डित पावें ॥
हलुआ पूरी जलेबी, माखन मिसिरी जो चहो ।
खाओ पीयो पेट भरि, तानि दुपट्टा सो रहो ॥

महाराज पृथु के अन्तिम यज्ञ में इन्द्र द्वारा विघ्न

[२६६]

चरमेणाश्वमेधेन यजमाने यजुष्पतिम् ।
वैन्ये यज्ञपशुं स्पर्धन्नपोवाह तिरोहितः ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १९ अ० ११ श्लोक)

छप्पय

यों नव नब्बे यज्ञ भये अन्तिम जब आयो ।
इन्द्रासन मम लेहिँ अमरपति पेट पिरायो ॥
वेष बदलिके विघ्न करन मख अश्व चुरायो ।
चोरी करिके चल्यो अत्रिमुनि तुरत लखायो ॥
करनी सुरपतिकी लखो, विषय भोग दुख मूल हैं ।
जे विषयनि अनुकूलतें, मोक्ष मार्ग प्रतिकूल हैं ॥

ये मुझसे अतिशय धनी, मानी, यशस्वी, तेजस्वी, सुखी, समृद्धिशाली, सम्पन्न आदि सद्गुणों से क्यों है, ऐसी भावना का ही नाम सातिशय दोष है। अपने परिचितों सम्बन्धियों को अपने से बढ़ते देखकर एक प्रकार की ईर्ष्या उत्पन्न होती है। क्यों होती है, यह

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! महाराज पृथु सौ अश्वमेध यज्ञों द्वारा यज्ञपति भगवान् श्रीहरि की आराधना कर रहे थे, तब अन्तिम सौवें यज्ञ में इन्द्र गुप्त रूप रखकर आये और यज्ञ के घोड़े को चुरा ले गये।"

इस सृष्टि रचयिता का दोष प्रतीत होता है, या उस सर्वान्तर्यामी की महत्ता। चींटी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त आप जिसे भी देखें वह अपने को सर्वश्रेष्ठ समझता है यों शिष्टाचार के लिये भले ही कह दें अजी, हम किस योग्य हैं हम तो क्षुद्रातिक्षुद्र प्राणी हैं, किन्तु इस कथन में महत्ता श्रेष्ठता छिपी है। जो कोई अपने को दासानुदास जीवमात्र की चरणरेणु कहते हैं, उनके सामने आप गालियाँ दें, उन्हें भला-बुरा कहें कोई क्षुद्रातिक्षुद्र कार्य करने को कहें, तब पता चलेगा, वे कैसे दासानुदास हैं। जो अपने को सबका सेवक, प्राणिमात्र का किङ्कर कहते हैं उनके सामने किसी महात्मा की प्रशंसा करो जो अपने को ब्रह्म बताते हों तो वे चाहे प्रकट में न कहें किन्तु मन में ऐसे लोगों का आदर न करेंगे। इससे प्रतीत होता है उन्होंने दासत्व में ही सर्वश्रेष्ठत्व समझ रखा है। ईश्वर जीव का अंश ही है। अविनाशी है, फिर वह अपने को छोटा समझे क्यों ? जान में अनजान में वही भाव सबके हृदय में जागरूक होता है। अज्ञानपूर्वक जो इसके लिये प्रयत्न करते हैं, वे संसार बन्धन से मुक्त होते हैं। जो दूसरों की बढ़ती देखकर ईर्ष्या द्वेषवश उनके कार्यों में विघ्न करते हैं उन्हें क्या कहें कुछ समझ में नहीं आता।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इस त्रैलोक्य में इन्द्रपद सर्वश्रेष्ठ है। जो इन्द्र पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है, वह सम्पूर्ण देवताओं, लोकपालों, उपदेवों, ऋषि-मुनि, मनुष्य, पशु, पक्षी सभी का पूजनीय और स्वामी समझा जाता है। ऐसा इन्द्रपद भी स्थायी नहीं। आज जो इन्द्र है, कल वह चींटी बन जाता है। जो भी १०० अश्वमेध यज्ञों को विधि विधान सहित पूरा कर ले वही इन्द्रपद का अधिकारी हो जाता है। इसीलिये इन्द्र का एक नाम शतक्रतु भी है। अर्थात् सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाला। इसीलिये इन्द्र जिसे यज्ञ तप करते देखता है उसी से डर जाता है कि कहीं

यह मेरे इन्द्रासन को न छीन ले। जिसे तनिक भी तेजस्वी तपस्वी और प्रभावशाली देखा उसे ही देखकर इन्द्र के पेट में पानी हो जाता है। अरे, यह तो बहुत बढ़ रहा है। महाराज पृथु के भी जब ९९ अश्वमेध यज्ञ पूरे हो गये तब तो इन्द्र बहुत घबड़ाया। जहाँ अन्तिम यज्ञ पूरा हुआ नहीं कि मुझे अपने बोरिया बिस्तर बाँधकर भागना पड़ेगा। किसी प्रकार इनके इस यज्ञ में विघ्न पड़ जाय जिससे पूरे १०० न हो सके, मेरा इन्द्रासन किसी प्रकार बच जाय!

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! ये विचार इन्द्र की क्षुद्रता के द्योतक हैं, नहीं तो भगवान् के अंशावतार पृथु को इन्द्रपद की क्या अपेक्षा। उनके सम्मुख सैकड़ों इन्द्र हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। किन्तु जिसे जो चीज प्रिय होती है वह उसे ही सर्वस्व समझता है और अपनी ही भाँति अनुभव करता है कि दूसरों को भी यह उसी प्रकार प्रिय होगी। कोई कुत्ता सूखा हाड़ ले जा रहा था उधर से इन्द्र अपने ऐरावत हाथी पर चढ़कर जा रहे थे। कुत्ता एक पहाड़ के ओट में छिप गया कि ऐसा न हो कि ये मुझसे मेरे इस प्रिय पदार्थ को छीन ले। एक सियार सड़े मांस को ले जा रहा था, उधर से सिंह को आते देखकर डर गया कि यह मुझसे इसे ले न ले। आप ही सोचिये अमृत को पीने वाले इन्द्र को सूखी हड्डी से क्या काम। अपने पुरुषार्थ से ही मारकर खाने वाले को दूसरों के लाये सड़े मांस से क्या प्रयोजन। किन्तु जीव तो अपनी भावना का दूसरों में आरोप करता है। इन्द्र भी सोचने लगे, त्रैलोक्यवन्दित इन्द्र पद के निमित्त ही महाराज पृथु १०० अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं। किसी भी प्रकार से हो इनके इस अन्तिम यज्ञ को पूरा न होने देना चाहिये।

यह सोचकर उन्होंने एक विचित्र वेष बनाया। विदुरजी! धूर्त लोग वेष के द्वारा लोगों को ठग लेते हैं। वेष तो सज्जनों

का-सा बनाते हैं, काम दुर्जनों के करते हैं। ऊपर से तो साधुओं का-सा बाना बना लेते हैं, भीतर असाधुता भरी रहती है। ऊपर से तो अपने को धर्मात्मा प्रकट करते हैं, किन्तु मन में अधर्म भरा रहता है। इसी को दम्भ, ढोंग, पाखण्ड, छल, छद्म तथा बनावटी वेष कहते हैं। ऐसे धर्म का कवच पहिनने वाले अधार्मिक पुरुष ही पाप का प्रचार करते हैं। भीतर और बाहर यदि अधार्मिक अपना यथार्थ रूप रखकर अधर्म का प्रचार करें तो उनकी सुनेगा कौन, उसे मानेगा कौन, ? वे तो अधर्म का, धर्म का बाना पहिना, भोली-भाली जनता को बहकाते हैं। लोग उनके प्रबल तर्कों से उनके महात्मापने के वेष से भुलावे में आ जाते हैं और अधर्म को ही मानने लगते हैं। उसी पाखण्ड रूप का इन्द्र ने आश्रय लिया।

उसने अपने सिर पर लम्बी-लम्बी जटायें बनायीं। बड़ी-बड़ी दाढ़ी, सिर पर बड़ा-सा तिलक, गेरुये कपड़े, हाथ में माला। कर में सुमिरनी, मन में कतरनी रखकर वह महाराज पृथु को ठगने चला। उसने सोचा—"अश्वमेध में प्रधानता अश्व की होती है, अतः यज्ञ के घोड़े को किसी प्रकार यज्ञभूमि से हटा दिया जाय तो यज्ञ होगा ही नहीं। यही सब सोचकर ईर्ष्या के कारण यज्ञ में विघ्न करने के निमित्त गुप्त रूप से इन्द्र यज्ञीय अश्व को चुरा ले गया।"

तिरस्करणीय विद्या के प्रभाव से इन्द्र को कोई देख तो सकता नहीं था, किन्तु सर्वज्ञ भगवान् अत्रि ने उसे घोड़ा चुराते हुए देख लिया। उन्होंने देखा अधर्म में धर्म का भ्रम उत्पन्न करने वाले इस पाखण्ड वेष का कवच पहिनकर इन्द्र अनुचित कार्य कर रहा है। ईर्ष्यावश अपनी पद-प्रतिष्ठा को भूलकर चोरी जैसे गर्हित कर्म को करते हुए भी इसे लज्जा नहीं आ रही है। इसलिये उन्हें देवेन्द्र पर क्रोध आया। महाराज पृथु तो यज्ञ की दीक्षा लिये बैठे थे, वे तो न उठ सकते थे, न क्रोध कर सकते थे। भगवान् अत्रि के

समीप ही महाराज पृथु का सबसे बड़ा तेजस्वी पुत्र बैठा था, उससे ऋषि बोले—"बेटा ! देखो-देखो, यह कैसा अनर्थ हो रहा है। तुम्हारे पिता के यज्ञीय घोड़े को इन्द्र चुराये लिये जा रहा है। तुम इससे शीघ्रता से घोड़े को छीन लो।"

इतना सुनते ही राजकुमार धनुषबाण लेकर इन्द्र के पीछे दौड़ा। इन्द्र आकाश मार्ग से बड़ी शीघ्रता के साथ घोड़े को भगाये लिये जा रहा था। राजकुमार ने दूर से ही कहा—"अरे नीच ! खड़ा हो ! तू कौन है ? मेरे पिता के घोड़े को क्यों लिये जाता है ?"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! चोर के पैर कच्चे होते हैं। इन्द्र फट से प्रकट हो गया। राजकुमार ने देखा, यह तो जटा दाढ़ी वाले, त्रिपुण्ड लगाये, रुद्राक्ष धारण किये कोई योगीश्वर हैं। धर्मात्मा पृथुपुत्र ने उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने समझा—"भगवान् अत्रि ने तो मुझे बताया था, इन्द्र अश्व को लिये जाता है। ये तो कोई धर्मात्मा योगी हैं, इन पर बाण छोड़कर मैं पाप का भागी कैसे हूँगा, अतः वे लौटने लगे।

अत्रि मुनि नीचे से ही देख रहे थे। वहीं से चिल्लाकर बोले—"बेटा, तू इसके वेष के भुलावे में मत आ ! इस नीच ने यह कपट बेष बना रखा है। इसका यह यथार्थ वेष नहीं है। ठगविद्या के कारण साधू का वेष रूपी कवच इसने पहिन रखा है। यह दूसरों के उत्कर्ष को सहन न करने वाला सुराधम इन्द्र ही है। इस पर दया मत करना। आज इसका अन्त ही कर दे। यह सबके तप और यज्ञों में सदा विघ्न करता है, आज इसे जीवित न जाने देना।"

अत्रि महर्षि की ऐसी बात सुनकर राजकुमार फिर लौटे। उन्होंने फिर बाण छोड़ा, किन्तु धर्मात्मा के हृदय, वेष का भी सम्मान करता है। उन्होंने सोचा—'कैसा भी हो वेष तो इसने

महात्मा का ही बना रखा है, इसे मैं अपने बाण से मारूँगा नहीं।' इतने में ही इन्द्र उस घोड़े को छोड़कर तथा उस वेष का भी परित्याग करके वहीं अन्तर्धान हो गये। राजकुमार इन्द्र से अश्व जीतकर अपने पिता के यज्ञ में आये। सभी ऋषि-महर्षि राजकुमार के इस अद्भुत पराक्रम को देखकर चकित रह गये सभी ने उनके बल, वीर्य, पराक्रम तथा शौर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की। फिर प्रसन्न होकर महर्षियों ने उसे अश्व को इन्द्र से जीत लाने के कारण "विजिताश्व" की उपाधि दी। उसी दिन से राजकुमार "विजिताश्व" के नाम से ही प्रसिद्ध हुए।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! अश्व के आ जाने पर यज्ञीय कार्य फिर बड़े विधिविधान से होने लगा। किन्तु इन्द्र को सन्तोष कहाँ? वह तो इस बात पर तुला हुआ था कि जैसे-होतैसे इस अन्तिम यज्ञ को पूरा न होने दे। वह तो स्वार्थ में अन्धा हो गया था, अतः सोचने लगा—"अब क्या करूँ कैसे यह यज्ञ अधूरा ही रह जाय। इन्हीं बातों पर विचार करते हुए वह दूसरा उपाय सोचने लगा।"

छप्पय

चोर इन्द्रकूँ अत्रि दिखायो पृथु कुमारकूँ।
वत्स! वेगि जा पकरि पुरन्दर चोर जारकूँ॥
सुनत राजसुत शीघ्र शक्रकी ओर सिधारयो।
साधु समुझिकें सहद कुमर फिरि नहिँ सर मारयो॥
अश्व विजय करि इन्द्रतें, लायो सुख सबकूँ भयो।
ऋषि मुनि मिलि विजिताश्व वर, नाम कुँवरकूँ तब दयो॥

पृथु यज्ञ में पुरन्दर द्वारा पुनः विघ्न

[२६७]

उपसृज्य तमस्तीव्रं जहाराश्वं पुनर्हरिः।
चषालयूपतश्छन्नो हिरण्यरशनं विभुः ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १९ अ० १९ श्लोक)

छप्पय

इन्द्र हृदयमहँ मची कुलबुली बिगरे मख कस।
अबके चुपके जाइ अश्व लाऊँ सोच्यो अस॥
अन्धकार करि पकरि अश्वकूँ सुरपति भाग्यो।
अत्रि कीन्ह संकेत कुमर फिरि पीछे लाग्यो॥
साधु वेष लखि फिर कुमर, हिचक्यो मुनि मारो कह्यो।
छोड़्यो शर विजिताश्व तब, अन्तर्हित शतक्रतु भयो॥

स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य मान, प्रतिष्ठा, लज्जा, सङ्कोच सभी का परित्याग कर देता है। अपना स्वार्थ जैसे भी सिद्ध हो, अपने हित की किसी प्रकार भी रक्षा हो सके उसके लिये सतत प्रयत्न करता है। कर्तव्य-अकर्तव्य का भी ध्यान छोड़ देता है। स्वार्थ में ऐसा अन्धा हो जाता है कि विचार विवेक सभी को तिलाञ्जलि दे देता है। ये संसारी अनित्य सुख सदा किसी के

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! अबके इन्द्र ने घोर अन्धकार उत्पन्न किया। फिर यज्ञस्तम्भ के सम्मुख रखे वलयाकार चषाल में सुवर्ण की जञ्जीर में बँधे हुए यज्ञ के अश्व को पुनः हर ले गया।"

समीप नहीं रहे, ये नश्वर हैं, क्षणभंगुर हैं, परिवर्तनशील हैं, परिणाम में दुखों को देने वाले हैं, फिर भी प्राणी इनकी प्राप्ति के लिये प्राणपन से प्रयत्न करता है। धर्माधर्म का ध्यान भी नहीं रखता। यह कैसी विडम्बना है भगवान् की कैसी दुरत्यय माया है। भगवान् ही जिसकी रक्षा करें वही इससे बच सकता है, वही विषयों के हठ को छोड़ सकता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब पृथु-कुमार विजिताश्व अपने पिता के यज्ञीय अश्व को छुड़ा लाये तब तो इन्द्र बड़े घबड़ाये। वे सोचने लगे—"अब तो महाराज पृथु के १०० यज्ञ पूरे हो जायँगे। कोई ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे अन्तिम यज्ञ पूरा न हो।"

यह सोचकर इन्द्र ने फिर विचित्र वेष बनाया। अब के उसने कापालिक अघोरी का वेष बनाया। सम्पूर्ण अङ्ग में चिता की भस्म लपेटी हुई है। जटायें बिखर रही हैं, नेत्र लाल-लाल हैं। एक हाथ में नरमुण्ड का कपाल है दूसरे में खट्वाङ्ग है। गले में माला पहिनकर साधु वेष बनाकर वे यज्ञभूमि में आये। अब के उन्होंने अपनी माया से सर्वत्र अन्धकार कर दिया।

यज्ञों में एक खम्भा-सा गड़ा रहता है, जिसे यूप कहते हैं। यज्ञीय पशु उसी में बाँधे जाते हैं। उसके सामने एक बलयाकार कष्ट रहता है जिसकी "चषाल" संज्ञा है। चषालयुक्त यज्ञस्तम्भ के सुवर्ण की जञ्जीर में महाराज पृथु के यज्ञ का वह घोड़ा बँधा था जो दशों दिशाओं में दिग्विजय करके लौटा था। यदि वह घोड़ा न रहे तो अश्वमेध यज्ञ ही न हो।

इन्द्र की माया से अन्धकार होने से किसी को कुछ दीखता तो था नहीं। उसी अन्धकार में इन्द्र अन्तर्हित होकर उस घोड़े को खोलकर आकाश मार्ग से फिर भागा। त्रिकालज्ञ अत्रि मुनि से

क्या छिपा था, उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से इन्द्र को घोड़ा लेकर आकाश में भागते हुए देख लिया और शीघ्रतापूर्वक विजिताश्व से बोले—"बेटा ! शीघ्रता करो, शीघ्रता करो। इन्द्र अपनी नीचता पर तुल गया है। वह यज्ञ में बार-बार विघ्न करता है। अब के तुम यज्ञीय अश्व को लाओ ही, इस ईर्ष्यालु इन्द्र का भी अन्त कर दो।"

इतना सुनते ही विजिताश्व धनुष बाण लेकर अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा इन्द्र के पीछे दौड़ा, जब उसे कपाल खट्वाङ्ग और जटा भस्म धारण किये देखा तो धर्मभीरु राजपुत्र फिर हिचका। इस पर अत्रि मुनि ने चिल्लाकर कहा—"बेटा ! वेष के मोह में मत पड़ो। यह तो पाखण्ड वेष है। पाप का खण्ड अर्थात् चिह्न है।" इतना सुनते ही विजिताश्व ने ज्यों ही फिर बाण छोड़ा त्यों ही वे स्वराट इन्द्र अपना छद्मवेष छोड़कर वहीं अन्तर्हित हो गये। घोड़े को वहीं छोड़ दिया। राजकुमार को इन्द्र का वध अभीष्ट नहीं था, अतः वह घोड़े को लेकर लौट आया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! त्रैलोक्य पूजित देव होकर इतने सम्मानमीय लोकपाल वन्दित अमराधिपति होकर भी देवराज ने ऐसा कुत्सित कार्य क्यों किया ? क्या उन्हें पता नहीं था कि पृथु साक्षात् भगवान् के अंशावतार हैं ? यदि उन्हें पता नहीं था तो उनके अभिषेक के समय दिव्य किरीट जाकर क्यों समर्पित किया ? और यदि पता था तो क्या वे यह नहीं जानते थे कि इन्हें इन्द्रासन से क्या प्रयोजन ?"

इस पर सूतजी बोले—"अब महाराज ! क्या बताऊँ ? यों ही समझिये कि यह सब भगवान् की माया है। वे जिस समय जिससे जो कुछ कराना चाहते हैं, उस समय उसकी वैसी ही बुद्धि बना देते हैं। क्या इन्द्र को पता नहीं था, श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म हैं,

उनकी माता के दिव्य कुण्डलों को जब नरकासुर छीन ले गया था तो भगवान् से ही जाकर प्रार्थना की। वे ही भगवान् जब कल्प-वृक्ष को उखाड़कर चलने लगे तो उन्हें मनुष्य समझकर युद्ध करने लगा। जब भगवान् ने नन्दादिक गोपों से इन्द्र को कुपित कराने के निमित्त इन्द्र याग बन्द करा दिया था, तब समस्त ब्रजमण्डल को ही बहा देने के लिये देवराज ने प्रलयकारी मेघों को आज्ञा दे दी कि समस्त ब्रज को जलमग्न कर दो। इसे सिवाय भगवान् की माया के और क्या कह सकते हैं।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"भगवान् की माया से तो सब होता ही है, यह तो ऐसा उत्तर है इसके आगे कुछ कहा ही नहीं जा सकता। फिर भी यह तो सोचने की बात है कि जिसके पुत्र में इतनी शक्ति है कि देवराज इन्द्र के हाथ से बार-बार अश्व को छुड़ा ले, फिर भी उनके यज्ञ में विघ्न-पर-विघ्न करना इसे तो हम धृष्टता ही कह सकते हैं।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! स्वार्थ में मनुष्य ऐसा अन्धा हो जाता है कि फिर उसे विवेक रहता ही नहीं। स्वार्थ के वशीभूत होने पर भी सभी सम्बन्ध, सभी उपकार, सभी ज्ञान, सभी महत्ता, पुरुष भुला देता है। उस समय तो जैसे भी हो, हमारा स्वार्थ सिद्ध हो जाय—यही आग्रह हृदय में समा जाता है और फिर निन्दित-से-निन्दित कार्य करने में भी नहीं हिचकता।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो सत्य है कोई साधारण व्यक्ति हो तो उसकी बात तो पृथक् है। इन्द्र के आचरण का तो सभी पर प्रभाव पड़ता है, वे जैसा करेंगे निन्दित लोग उनके उन पापों का भी अनुकरण करेंगे, इससे अधर्म की वृद्धि होगी तो यह तो उचित नहीं।"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! उचित तो नहीं है, उचित कौन बताता है। फिर भी धर्म तथा अधर्म हम दोनों ही श्रेष्ठ पुरुषों देवों से ही सीखते हैं। ऐसा न हो तो अधर्म कहाँ रहे, इसलिये पाखण्ड धर्म वाले भी देवताओं का श्रेष्ठ पुरुषों का उदाहरण देकर पाखण्ड का प्रचार करते हैं। इन्हीं अधर्म की बातों से कलियुग में अधर्म अपना आधिपत्य स्थापित करता है।

इन्द्र ने ईर्ष्यावश यज्ञ का विघ्न करने के लिये जो अनेकों पाखण्ड वेष बनाये थे, वे सब वेष ज्ञान-दुर्बल लोगों ने प्रमाण मान लिये। वे कहने लगे वेष बनाना ही परम धर्म है। वाह्य चिह्नों में ही धर्म भरा है, इसलिये कोई कहने लगे—"दिगम्बर हो जाना ही परम धर्म है, ज्ञान हो न हो, लँगोटी खोलकर फेंक दो मुक्ति हो जायगी, यह मूर्खता नहीं तो क्या है। कोई कहने लगा तिलक माला में ही धर्म है, कोई-कोई कहने लगे लाल कपड़े रङ्ग लिये कि मुक्त हो गये। ये सब वेष पर ही बल देते हैं। वेष बनाने को ही सब कुछ समझते हैं। लिङ्ग को ही धर्म में मुख्य कारण मानते हैं। अतः देखने में सुन्दरता या बड़ी-बड़ी तर्क की बातें करने वाले पाखण्ड पूर्ण उन नग्न, लाल वस्त्र आदि पहिनकर विविध वेष बनाने वाले केवल भ्रमवश यही धर्म है, ऐसा मानने लगते हैं। इन्हीं सब पाखण्ड की बातों से मनुष्यों की बुद्धि मोहित हो जाती है। अतः इन्द्र के ये वेष अधर्म की वृद्धि में कारण हुए। अधार्मिक तामसिक लोगों ने अधर्म को धर्म मान लिया।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इस बार-बार यज्ञ में विघ्न करने की बात महाराज पृथु के भी कानों में पड़ी। इन्द्र की ऐसी करतूतों को देखकर महाराज पृथु को बड़ा दुःख हुआ। वे सोचने लगे—"अब हमें क्या करना चाहिये।" उन्हें इन्द्र के ऊपर बड़ा क्रोध आया।"

छप्पय

मख विध्वंसन हेतु इन्द्र जो वेष बनाये ।
ते पाखण्डनि चिह्न ऊपरी परम सुहाये ॥
जटाजूट बनि नग्न लाल अरु श्वेत पहिनि पट ।
यही मोक्षको मार्ग अज्ञ नित करहिँ सतत हट ॥
तम प्रधान विद्या रहित, मानें धर्म अधर्मकूँ ।
लिङ्ग धर्म कारन नहीं, समझें नहिँ जा मर्मकूँ ॥

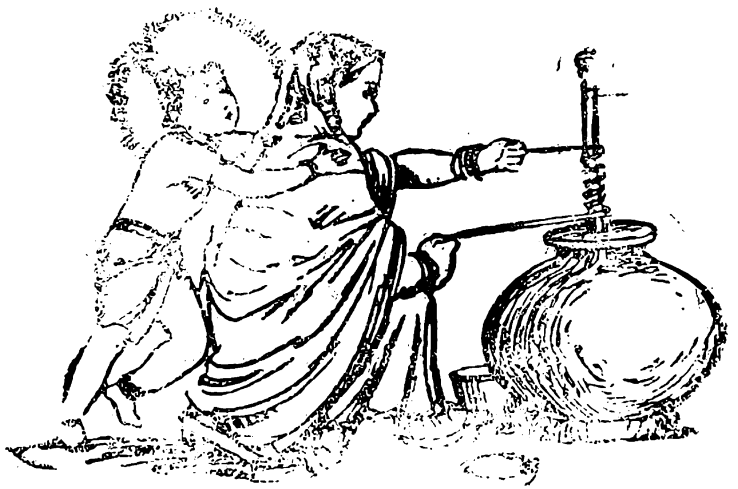

यज्ञ में विघ्न करने वाले इन्द्र पर महाराज पृथु का क्रोध

[२६८]

तमृत्विजः शक्रवधाभिसंधितम्
विचक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमसह्यरंहसम् ।
निवारयामासुरहो महामते
न युज्यतेऽत्रान्यवधः प्रचोदितात् ॥*
(श्री० भा० ४ स्क० १८ अ० २७ श्लोक)

छप्पय

समुझी शक्र कुचाल क्रोध नृप पृथुकूँ आयो ।
इन्द्र मारिबे हेतु धनुष अरु बाण उठायो ॥
ऋत्विज बोले—विभो ! विहित बध अब नहिँ तुमकूँ
हम सब कुछ करि सकें देहिँ आयसु यदि हमकूँ ॥
मन्त्र शक्तितें शक्रकूँ, अबई यहाँ बुलाइँगे ।
स्वाहा करिकें अग्निमें, यमपुर ताहि पठाइँगे ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इन्द्र की करतूतों को देखकर महाराज पृथु का रूप ऐसा हो गया था कि जिसकी ओर देखना भी कठिन था तथा जिनका पराक्रम असह्य था । ऐसे महाराज को इन्द्र के वध के लिये उद्यत देखकर ऋत्विजों ने उन्हें इस कार्य से रोका और कहने लगे—"हे परमबुद्धिमान् राजन् ! यज्ञानुष्ठान में दीक्षा लिये पुरुष को शास्त्र विहित यज्ञ पशु के अतिरिक्त किसी भी प्राणी का वध करना उचित नहीं है ।"

चन्दन स्वभाव से शीतल है, किन्तु यदि उसे कोई अतिशय रगड़े तो उसमें भी अनल उत्पन्न हो जाता है। जल स्वभाव से ठण्डा है, किन्तु पतीली में भर के उसके नीचे अग्नि जलाते रहो तो वह खौलने लगता है, इसी प्रकार सज्जन सर्वत्र क्रोधहीन होते हैं, किन्तु जब कोई उन्हें अत्यन्त सताता है, नितान्त विवश कर देता है तो उन्हें भी कभी-कभी क्रोध आ जाता है और ऐसा क्रोध आता है कि वे न करने योग्य कार्य को भी करने को उद्यत हो जाते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब इन्द्र कई बार पाखण्ड वेष बनाकर यज्ञ के अश्व को हर ले गया, तब तो महाराज पृथु को उस पर बड़ा क्रोध आया। वे सोचने लगे—'देखो, इस इन्द्र को हम यज्ञों में कितने सत्कारपूर्वक बुलाते हैं, कितनी श्रद्धा से इसका आवाहन करते हैं, भाग समर्पित करते हैं, फिर भी यह ईर्ष्या और कृतघ्नतापूर्वक हमारे यज्ञ में विघ्न उपस्थित करता है, हमने इसका कौन-सा अनिष्ट किया है, क्या बिगाड़ा है। अच्छी बात है। आज हम इसका सब इन्द्रपना भुला देंगे। आज इसे यम-पुर का द्वार दिखा देंगे, आज इसे अमर से मरणधर्मा बना देंगे। आज इसे इन्द्र-पद से सदा के लिये च्युत करके मृत्यु के मुख में डाल देंगे।' ऐसा सोचकर महाराज ने इन्द्र के बध के निमित्त ज्यों ही धनुष बाण उठाया, त्यों ही यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों ने उन्हें रोकते हुए कहा—"महाराज, यह आप क्या कर रहे हैं? यज्ञ में दीक्षा लिया हुआ यजमान किसी भी दशा में किसी की हिंसा नहीं कर सकता। यज्ञानुष्ठान में दीक्षित पुरुष के लिये क्रोध करना, हिंसा करना सर्वथा वर्जित है। वह अपने हाथ से अपने शरीर को खुजला नहीं सकता, इसीलिये यज्ञ-दीक्षित पुरुष हाथ में हिरन का सींग रखता है कि खुजली होने पर उससे ही शरीर को खुजावे।"

इस पर महाराज पृथु ने पूछा—"ऋषियो ! आप कहते हैं कि दीक्षित पुरुष किसी भी दशा में किसी की हिंसा नहीं कर सकता, यह बात मेरी समझ में आई नहीं। यदि यज्ञ में कोई बार-बार विघ्न करता हो तो ऐसी दशा में क्या किया जाय, आवश्यक हिंसा तो करनी ही पड़ती है, ऐसा न हो तो फिर यज्ञीय-पशु की बलि कैसे दी जाय। यह भी तो एक हिंसा ही है और यजमान के ही द्वारा की जाती है।"

यह सुनकर ऋत्विज बोले—"महाराज, जो शास्त्र-विहित विधि है, उस विधि के अतिरिक्त हिंसा करने का निषेध है। यज्ञीय बलि तो यज्ञ का एक अङ्ग ही है। वह तो वेदविधि है इस प्रकार की वैदिकी विधि हिंसा होने पर भी हिंसा नहीं कहलाती। उसकी गणना तो आवश्यक विधि में की जाती है इसलिये आप दीक्षित हैं, क्रोध न करें। हमें आप आज्ञा दें आप क्या करना चाहते हैं ?"

महाराज पृथु ने कहा—"आप देख नहीं रहे हैं, तेजस्वी और त्रैलोक्य-वन्दित देव होने पर भी यह इन्द्र बार-बार हमारे यज्ञ में विघ्न उपस्थित कर रहा है, इसका कुछ भी तो प्रतिकार करना चाहिये।"

यह सुनकर ऋत्विज ने कहा—"महाराज ! यह तो इन्द्र आपके दिगन्त व्यापी सुयश के ही कारण मृतप्राय बन गया है, यह तो आपसे ईर्ष्या रखने के कारण तेजहीन हो गया है। मक्खी के मारने के लिये ब्रह्मास्त्र नहीं छोड़ा जाता। मृतक के मारने में शूरवीरों का बल व्यर्थ नहीं होता। आप आज्ञा दें तो हम अभी इस ईर्ष्यालु इन्द्र को इसी यज्ञकुण्ड में स्वाहा कर दें।"

महाराज बोले—"यदि वह आपका अभिप्राय समझकर आपके आवाहन करने पर भी यहाँ न आया तब आप क्या करेंगे।"

कड़ककर ऋत्विजों ने कहा—"महाराज ! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं। इन्द्र की क्या शक्ति जो हमारे आवाहन करने

पर न आवे। हमारे मन्त्रों की शक्ति अमोघ है, हमने ब्रह्मचर्य धारण पूर्वक उनकी विधिवत् उपासना की है। वे मूर्तिमान होकर शरीर में रहते हैं। हमारे मन्त्रों में वह प्रभाव है कि इन्द्र को आने के लिये विवश होना पड़ेगा, वह रस्सी में बँधे पशु के समान बँधा हुआ चला आवेगा। केवल आपकी आज्ञा की ही देरी है। आप आज्ञा भर दे दें, हम बलात्कार इन्द्र को बुलावेंगे और आपके देखते उसे अग्नि में भस्म करके सदा के लिये तपस्वी और यज्ञ करने वालों का कण्टक काट देंगे।"

महाराज पृथु तो इन्द्र के अनुचित कार्य से खीजे हुए ही थे, उन्होंने कहा—"मुनियो! यदि ऐसी बात है तो आप लोग अपने अमोघ मन्त्रों का प्रयोग कीजिये। मेरे यज्ञ में विघ्न करने वाले इन्द्र का अन्त आप लोग अवश्य ही कर दें। संसार प्रत्यक्ष इस बात को देखे कि पृथु के कार्य में विघ्न करने वाला चाहे साक्षात् शचीपति देवेन्द्र ही क्यों न हो। वह भी जीवित नहीं रह सकता। आप इस विषय में न बहुत विचार करें, न विलम्ब। शुभस्य शीघ्रम्। अमर पति का आज ही अन्त हो जाना चाहिये।"

महाराज पृथु की ऐसी सम्मति तथा अनुमति पाकर ब्राह्मणों ने अपने अमोघ मन्त्रों का प्रयोग किया। क्रोध में भरकर मारने की इच्छा से इन्द्र का ज्यों ही आवाहन किया, त्यों ही इन्द्र का इन्द्रासन डगमगाने लगा। इन्द्र की तो सब सिटिल्ली भूल गई। वह समझ ही न सका कि मेरा दिव्य सिंहासन क्यों डगमगा रहा है। उसने सुवर्ण मण्डित सिंहासन को कसकर पकड़ लिया, इतने में ही क्या देखता है कि सुधर्मा सभा से इन्द्र बलपूर्वक सिंहासन सहित नीचे गिर रहा है। वह बार-बार चिल्लाने लगा—"मुझे कोई पकड़ो, मुझे बचाओ।" किन्तु अब पकड़े कौन? ईर्ष्यालु को पतन से कौन बचा सकता है, दूसरों की सम्पत्ति और परसुयश को देखकर जो जलता रहता है, उसकी अधःपतन से रक्षा करने

की सामर्थ्य किसमें है। इन्द्र आकाश से कलामुण्डी खाता हुआ यज्ञकुण्ड की ओर गिरने लगा। ऋत्विजों ने, यज्ञ में एकत्रित हुए समस्त दर्शकों ने देखा देवराज इन्द्र अवश हुए मन्त्रों के प्रभाव से नीचे की ओर खिंचे चले आ रहे हैं। सभी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। ब्राह्मणों की अमोघ मन्त्रशक्ति की सभी एक स्वर से प्रशंसा करने लगे। अत्रि मुनि बोले—"देखो, हमारा हवनीय पदार्थ आकाश से नीचे गिर रहा है। जब तक यह पृथ्वी में न गिरने पावे तभी तक इसे अधर में स्रुवा पर ले लो। अपने स्रुवा को सम्हाल लो अग्नि को और भी प्रज्वलित कर दो। जहाँ यह नीचे आ जाय स्रुवा पर रखकर अग्नि में स्वाहा कर दो। आज इस इन्द्र की ही आहुति दे दी जाय।"

यज्ञ में बैठे हुए ऋत्विज सभापति सभासद और दर्शकों में उत्सुकता, उत्साह तथा सम्भ्रम की एक लहर-सी उठने लगी। सभी चकित हुए आँखों से अद्भुत दृश्य को देखने लगे कि आज इस पृथु के यज्ञ में यह अपूर्व बात हो रही है कि जिस इन्द्र को यज्ञों में बड़े सम्मान से बुलाया जाता था आज उसी को अग्नि में होमा जा रहा है। इतने में ही इन्द्र नीचे आ गया। ऋत्विज ज्यों ही स्रुवा लेकर होम करना चाहते, त्यों ही बड़ी शीघ्रता से हंस पर चढ़े हुए चतुर्मुख ब्रह्मा वहाँ आ उपस्थित हुए और बड़ी व्यग्रता के साथ उच्च स्वर से ऋत्विजों को सम्बोधन करते हुए बोले—"अरे, अरे, तुम यह क्या अनर्थ कर रहे हो? ब्राह्मणो सावधान! सावधान! ऐसा अन्याय मत करो। इस प्रकार मन्त्रों का दुरुपयोग करना उचित नहीं। ऐसा दुस्साहस भूलकर भी मत करना, मेरी बात सुनो।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! लोक पितामह ब्रह्माजी के ऐसे वचन सुनते ही सब-के-सब सहम गये। सब गुड़ गोबर हो

गया। सब इन्द्र के वध से निवृत्त होकर ब्रह्माजी के स्वागत-सत्कार में लग गये।"

छप्पय

क्रोधित ह्वै पृथु कहें—अवसि देवेन्द्र जराओ।
पढ़ें विप्रवर मन्त्र, अमरपति आओ आओ॥
गिरे स्वर्गते इन्द्र कलामुण्डी सी खावत।
देखे सबने शक्र खिंचे पशु सम मख आवत॥
दौरे आये पितामह, अरे, अरे, का करत हो।
यज्ञ रूप इन इन्द्रके, व्यर्थ प्रान च्यौं हरत हो॥

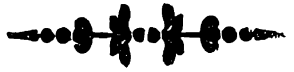

ब्रह्माजी के समझाने पर महाराज पृथु का क्रोध शान्त, यज्ञ की समाप्ति

[२६८]

मास्मिन्महाराज कृथाः स्म चिन्ताम्
निशामयास्मद् वच आदृतात्मा ।
यद्ध्यायतो दैवहतं नु कर्तुम्
मनोऽतिरुष्टं विशते तमोऽन्धम् ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १९ अ० ३४ श्लोक)

छप्पय

भैया, श्रद्धासहित जिन्हें मखमाहिँ बुलाओ ।
काहे तिनकूँ विप्र ! अग्निमहँ आजु जराओ ॥
राजन् छोड़ो बैर व्यर्थ मति बात बढ़ाओ ।
अब हठ करि पाखण्ड जगतमहँ मति फैलाओ ॥
सौ मख कर का करोगे, मोक्षमार्गके पथिक तुम ।
इच्छा राखो इन्द्रकी, सबके हितकी कहहिँ हम ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! कुपित हुए पृथु के समीप ब्रह्माजी आकर उन्हें समझाते हुए कहने लगे—"महाराज ! आप इस बात की चिन्ता न करें कि हमारा यह यज्ञ निर्विघ्न समाप्त न हुआ । हम जो कहें उसे आदर के साथ श्रवण करें । देखिये, जो पुरुष दैव के द्वारा विघ्न किये हुए कार्य को करने का दुराग्रह करता है उसका मन अत्यन्त क्रोध के कारण घोरतम मोह को प्राप्त होता है ।"

संसार में यदि वृद्ध पुरुष न हों तो न जाने क्रोध में भरकर ये युवक लोग क्या-क्या अनर्थ कर डालें। जब दो समान बल वाले किसी बात पर अड़ जाते हैं, किसी विषय पर दोनों का ही समान रूप से आग्रह होता है तो वहाँ संघर्ष हो ही जाता है। उस संघर्ष में यदि वृद्ध बीच में नहीं पड़ते तब तो रक्तपात अवश्य-म्भावी है। यदि वृद्ध बीच में पड़ गये तो समझा-बुझाकर किसी को प्यार से किसी को डाँट-डपटकर शान्त कर देते हैं। उस झगड़े को मिटा देते हैं। इसीलिये सभाओं में वृद्धों का होना अत्यावश्यक है। वह सभा, सभा ही नहीं कही जा सकती जहाँ वृद्ध न हों और वे वृद्ध, वृद्ध ही नहीं माने जाते जो सबके हित की पक्षपात रहित बात न कहें।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब ब्राह्मण गण इन्द्र को अग्नि में अपनी मन्त्र शक्ति से स्वाहा करने को उद्यत हो गये, तब उसी समय ब्रह्माजी ने बीच में आकर उन्हें डाँटा। ब्रह्माजी की डाँट-डपट सुनकर सभी यज्ञकर्ता चुप हो गये, क्योंकि यज्ञ कराने वाले कोई ब्रह्माजी के पुत्र थे, कोई पौत्र, कोई प्रपौत्र। कैसा भी हो, बड़ों का शील-सङ्कोच करना ही पड़ता है। उस समय आदि त्रेता युग था। यदि आज का जैसा कलियुग होता तो सम्भव है लोग उन पितामह की अवहेलना भी कर सकते थे। ब्रह्माजी वृद्धपने के स्वभाव से सबको डाँटते हुए बोले—"क्यों भाई ! तुम लोग यह क्या गड़बड़-सड़बड़ कर रहे हो ? अरे, इन्द्र अग्नि में हवन करने की वस्तु है ? तुम लोगों की कैसी मति मारी गई है। राम ! राम ! भैया, इन्द्र तो साक्षात् विष्णु-स्वरूप है। तुम सब लोग यज्ञों में इन्हीं की आराधना करते हो, इन्हीं को भक्तिपूर्वक बलि भाग देते हो। यज्ञ पुरुष जो भगवान् हैं, उनके अंश ही तो ये सब देवतागण हैं। इसलिये तुम लोगों को ऐसा अनर्थ नहीं

करना चाहिये। अपनी मन्त्रशक्ति का ऐसे कार्यों में दुरुपयोग करना उचित नहीं।"

ऋत्विजों ने कहा—"महाराज! हम क्या करें? हम तो यजमान के अधीन हैं, यजमान की जैसी इच्छा होगी, उसी की पूर्ति हम करेंगे। आप इन्द्र को तो बरजते नहीं, हमें ही डाँट रहे हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"इन्द्र तो है हठी, उसे क्या समझावें। तुम लोग इतने बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी होकर व्यर्थ में बात को बढ़ा रहे हो। उसी की बात बड़ी होने दो। जब वह आग्रह करता है तो तुम उसके आग्रह को मान लो।"

ऋत्विजों ने कहा—"महाराज, हमारा तो कोई आग्रह है नहीं। हमें आप जैसी भी उचित अनुचित आज्ञा देंगे, उसका सिर से पालन करेंगे।"

ब्रह्माजी ने कहा—"इस अन्तिम यज्ञ में ही इन्द्र अपनी हठ पर तुल गया है, उसने कैसा पाखण्ड फैलाया है, तुम समझते नहीं, इसका संसार के लिये कैसा घातक परिणाम होगा, सब इन्ही बातों का अनुकरण करेंगे। जगत् में पाखण्ड मार्ग की वृद्धि होगी। अब जो हुआ सो हुआ। तुम यज्ञ को बन्द करो।"

ऋत्विजों ने कहा—"महाराज! यज्ञ को बन्द करना तो हमारे अधिकार की बात है नहीं। राजा ने हमें यज्ञ के लिये वरण किया है, हमने प्रतिज्ञा की है, हम आपके यज्ञ को अपनी मन्त्रशक्ति से निर्विघ्न समाप्त करायेंगे। इसलिये जब तक यजमान धर्म में स्थित है, कोई वेद-विरुद्ध आचरण नहीं करता, हममें श्रद्धा रखता है, हमारी आज्ञाओं का पालन करता है, तब तक हम कार्य से कभी भी पराङ्मुख नहीं हो सकते। हाँ, यजमान स्वयं ही यज्ञ से निवृत्त हो जाय, यज्ञ करना न चाहे, तब दूसरी बात है फिर हम दोषी नहीं कहला सकते। जब तक राजा दीक्षा लिये बैठा है

और यज्ञ कराने में समर्थ है, तब तक हम स्वेच्छा से यज्ञ बन्द नहीं कर सकते।"

यह सुनकर ब्रह्माजी महाराज पृथु को बड़े नम्र शब्दों में समझाने लगे। पितामह बोले—"राजन्! आप इन्द्र पर इतने कुपित क्यों हैं?"

कुछ रोष के स्वर में महाराज पृथु बोले—"महाराज! आप देख नहीं रहे हैं, इन्द्र मेरे यज्ञ में बार-बार विघ्न कर रहा है। क्रोध की तो बात ही है।"

ब्रह्माजी ने हँसकर कहा—"आप यज्ञ करके कौन-सा पद प्राप्त करना चाहते हैं?"

महाराज पृथु ने कहा—"महाराज, मुझे किसी भी पद की आकांक्षा नहीं। मैं तो यज्ञों द्वारा भगवान् की निष्काम भाव से उपासना कर रहा हूँ।"

बड़े मधुर शब्दों में ब्रह्माजी ने कहा—"जब आपको भगवान् की आराधना ही करनी है तो आपका १०० यज्ञ करने का ही आग्रह क्यों है। जैसे ही १०० यज्ञ वैसे ही ९९, आप इस छोटी-सी बात के पीछे क्रोध करके अपने तप तेज को नष्ट करना क्यों चाहते हैं।"

इस पर महाराज पृथु ने प्रेम के रोष में कहा—"महाराज, ये बातें आप इन्द्र को क्यों नहीं समझाते। उसका हमने क्या बिगाड़ा है, वह क्यों हमारे यज्ञ में विघ्न करने पर तुला हुआ है।"

इस पर ब्रह्माजी बड़े स्नेह से बोले—"अब भैया, तुम दोनों ही अपने-अपने हठ पर अड़े रहोगे तो फिर गाड़ी आगे चलेगी ही नहीं। तुम लोगों की हठ के पीछे संसार का अनर्थ होगा। पाखण्ड मार्ग का प्रचार होगा, इसलिये भैया, दोनों आपस में सुलह कर लो।"

महाराज पृथु बोले—"हमारी क्या लड़ाई। उन्होंने ही पहिले से छेड़खानी आरम्भ की है, वे हमारे यज्ञ में विघ्न करना छोड़ दें हमारी सुलह ही है। वे अपने घर, हम अपने घर।"

ब्रह्माजी बोले—"भैया, ये सुलह की बातें नहीं। ये तो हठ वाली बातें हैं। देखो, इन्द्र भी भगवान् के अंशावतार हैं, तुम भी भगवान् के अंशावतार हो। बात को बढ़ाओ मत। आप ही छोटे बन जाओ। इन्द्र का आग्रह है, सौ यज्ञ पूरे न हो तो न सही। आपको १०० से क्या लेना। आप तो मोक्ष धर्मावलम्बी हैं।"

पृथु महाराज ने उपेक्षा के स्वर में कहा—"महाराज! मुझे क्या? मेरे लिये जैसे ही १०० वैसे ही हजार, वैसे ही १०, किन्तु मैं इसी दुविधा में पड़ा हूँ कि जो प्रतिज्ञा करके भी उस काम को नहीं करता वह संसार में झूठा कहलाता है, मैंने सौ यज्ञों की दीक्षा ली है। १०० पूरे न होंगे तो लोग मेरी निन्दा करेंगे। कहेंगे—पृथु अपनी प्रतिज्ञा पालन नहीं करते।"

इस पर ब्रह्माजी बोले—"राजन्! आप इस बात से निश्चिन्त रहें, इससे आपकी निन्दा नहीं, किन्तु बड़ाई ही होगी। ग्रहण करने वाले से सामर्थ्य होने पर त्याग करने वाला सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। मान पाने वाले की अपेक्षा मान देने वाले का महत्व अधिक है, दूसरों को नीचा दिखाने की अपेक्षा शक्ति रहने पर स्वयं नत हो जाना प्रशंसनीय कार्य है। अतः राजन! आपके ९९ यज्ञ से ही सैंकड़ों यज्ञों के समान आपकी कीर्ति होगी। आप इस बात की चिन्ता छोड़ दें कि मेरे १०० यज्ञ निर्विघ्न समाप्त नहीं हुए। देखिये, जिस कार्य में दैव प्रतिकूल हो उसके लिये अत्यधिक आग्रह करना क्रोध उत्पन्न करके सबसे लड़ना-भिड़ना यह प्रशंसनीय कार्य नहीं है। इससे तमोगुण बढ़ता है, लक्ष्य से च्युत होना पड़ता है और उत्थान के स्थान पर पतन होता है। अतः ऐसे अवसर पर अपने बड़े वृद्ध लोग जो कहें उसी को श्रद्धा

सहित मान लेना चाहिये। हम जो आपको सम्मति दे रहे हैं, उसे बेमन से नहीं, आदरपूर्वक स्वीकार कीजिये, उसमें आपका तथा समस्त प्रजा का कल्याण है।"

यह सुनकर पृथु बोले—"महाराज! मुझे तो आपकी आज्ञा सर्वथा स्वीकार है, किन्तु यह अन्तिम ही तो यज्ञ है।" ब्रह्माजी ने तनिक घुड़ककर बोले—"देखो, फिर वही बात। भैया! ये देवता बड़े हठी होते हैं। इन्द्र नहीं मानेगा, नहीं मानेगा, वह विघ्न अवश्य करेगा। शक्ति भर आपके १०० यज्ञों को पूरा न होने देगा इससे होगा क्या? पाखण्ड बढ़ेगा धर्म का ह्रास होगा। इसलिये भैया! तुम्हारे यज्ञ बन्द करने से ये सब अनर्थ एक साथ रुक जायँगे। इन्द्र तुम्हारे यज्ञ से द्रोह करता है, तुम्हारे घोड़े को चुराता है, इससे पाखण्ड वेष से भोली-भाली जनता मोहित होती है। आपका अवतार तो धर्म की वृद्धि के लिये हुआ है। वेन के समय धर्म लुप्तप्राय हो गया था, उसने यज्ञ, दान, तप सभी बन्द कर दिये थे, आपने उन सबका फिर से प्रचार किया, धर्म की मर्यादा को फिर से बाँधा। फिर आप अधर्म को क्यों बढ़ने देते हैं, बन्द कर दीजिये इस यज्ञ को। इन्द्र का ही हठ रहे। ये विश्व के रचयिता भृगु आदि महर्षि धर्म की वृद्धि करके प्रजा को बढ़ा रहे हैं, इनके काम में आप सहायता करें। इन सबने धर्म वृद्धि के लिये ही वेन के मृतक शरीर से आपका प्राकट्य कराया है। इन्द्र-निर्मित इस प्रचण्ड पाखण्ड पाप पथ का मूलोच्छेदन कीजिये। आप हिचक क्यों रहे हैं?"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! लोक पितामह भगवान् ब्रह्मदेव की बात सुनकर महाराज पृथु ने उस पर विचार किया और फिर हाथ जोड़कर बोले—"प्रभो! जैसी आपकी आज्ञा।"

अच्छी बात है, मैं इस यज्ञ की पूर्ति के हठ को आपकी आज्ञा से छोड़े देता हूँ।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भाई ! ऐसे नहीं। हमारे कहने से बेमन से नहीं। इन्द्र के अपराधों को क्षमा कर दो। मन में मैल मत रखो रञ्चकमात्र भी इस बात का ध्यान मत रखो कि यह हमारे यज्ञ का विघ्न करता है। इसे दैवेच्छा समझकर इनसे प्रेम कर लो।"

महाराज पृथु ने कहा—"नहीं, भगवन् ! राग-द्वेष की कौन-सी बात है। इन्द्र भी आपके बच्चे हैं, मैं भी आपका बच्चा हूँ, भाई भाइयों में ऐसा मतभेद हो ही जाता है। अब मेरे मन में कोई बात नहीं।"

इतना कहकर महाराज ने ऋत्विजों से यज्ञ स्थगित करने की प्रार्थना की। अब यज्ञान्त अवभृत स्नान हो—इतना सुनते ही ऋत्विजों ने पूर्णाहुति की। भगवती विष्णुपदी गङ्गाजी में अवभृत स्नान हुआ। यज्ञ में आये हुए समस्त देवताओं ने महाराज को अभीष्ट वरदान दिये। ब्राह्मणों ने मनमानी यथेष्ट दक्षिणा पाकर महाराज को भाँति-भाँति के अमोघ आशीर्वाद दिये। महाराज ने सभी का दान-सम्मान से यथोचित आदर किया। दान चाहे कितना भी करें यदि वह श्रद्धा और सम्मानपूर्वक नहीं किया जाता तो सब व्यर्थ है। लेने वालों को हार्दिक प्रसन्नता नहीं होती, पूर्ण सन्तोष नहीं होता। इसके विपरीत चाहें दान कम ही दिया जाय, किन्तु मान-सम्मान और श्रद्धा सहित उचित पात्र को दिया जाय तो उसका अक्षय फल होता है। महाराज पृथु ने दान भी आवश्यकता से अधिक दिया और मान-सम्मान स्वागत-सत्कार भी सबका यथेष्ट किया। इससे सभी सन्तुष्ट होकर महाराज पृथु के प्रभाव की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए अपने-अपने स्थानों को चले गये।

छप्पय

विधि आज्ञा सिर धारि यज्ञ पृथु बन्द करायौ ।
गुरु गौरवकूँ मानि बात आगे न बढ़ायौ ॥
जो-जो मखमहँ देव विप्र ऋषि मुनिवर आये ।
सबको करि सत्कार, विविध बिधि दान दिवाये ॥
पाइ दान सम्मान बहु, विप्र तुष्ट अतिशय भये ।
दै आशिष अति मुदित है, अपने-अपने घर गये ॥

महाराज पृथु और इन्द्र में प्रेम कराने को प्रभु प्राकट्य

[२७०]

भगवानपि वैकुण्ठः साक मघवता विभुः ।
यज्ञैर्यज्ञपतिस्तुष्टो यज्ञभुक् तमभाषत ॥
एष तेऽकारषीद्भद्रं हयमेधशतस्य ह ।
क्षमापयत आत्मानमुष्य क्षन्तुमर्हसि ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० २० अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

पृथु यज्ञनितें तुष्ट भये श्रीमधुसूदन अति ।
भये यज्ञमहँ प्रकट शक लै सङ्ग यज्ञपति ॥
पृथुतें पूजित भये फेरि बोले मृदुबानी ।
राजन ! सबहिँ कुचाल शतक्रतुकी हम जानी ॥
हौं प्रसन्न तुमपै भयो, सिद्ध होहिँ तब काज सब ।
अति लज्जित यह इन्द्र है, जाहि क्षमा करि देहु अब ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! लोकपितामह ब्रह्माजी के समझाने के अनन्तर महाराज पृथु के यज्ञों से सन्तुष्ट होकर यज्ञभोक्ता भगवान् विष्णु इन्द्र को साथ लिये हुए पृथु-यज्ञ में प्रकट हुए और महाराज से बोले—"राजन् ! आपके सौवें यज्ञ को इस इन्द्र ने भङ्ग किया है, इस समय यह अपने अपराध को आपसे क्षमा कराना चाहता है, इसलिये आपको इसे क्षमा कर देना चाहिये ।"

समस्त कर्मों के करने का एकमात्र उद्देश्य है, प्रभु प्रीति। जो इस उद्देश्य को भूलकर कर्मों में ही आसक्त हो जाते हैं उनके द्वारा संसारी भोगों की इच्छा रखते हैं, वे उसी प्रकार हैं, जैसे कोई पथिक किसी राजा के समीप जा रहा हो। वहाँ जाकर केवल पथ में ही आसक्त हो जाय। अच्छी-अच्छी चमकीली दीखने वाली वस्तुओं में ही फँसकर लक्ष्यच्युत हो जाय। यज्ञादि कर्म साध्य नहीं, साधन हैं। इनको करके श्रीकृष्णार्पण कर दे। उनका फल स्वयं न चाहे, जो ऐसा न करके उनको ही साध्य मानकर पर-निन्दा, द्वेष, कलह, शत्रुता आदि करते हैं, उन्हें अन्त में पछताना पड़ता है। वे उभयभ्रष्ट हो जाते हैं। हमारे जिस कर्म से भी प्रभु प्रसन्न हो जायँ, वही श्रेष्ठ है। प्रभु प्रसन्न हो गये तो अधूरा काम भी पूरा है, यदि उनकी प्रसन्नता प्राप्त न हुई तो पूरा काम भी अधूरा माना गया है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! ब्रह्माजी की आज्ञा मान-कर जब महाराज पृथु ने १०० यज्ञों की पूर्ति का विचार छोड़ दिया और १०० वें यज्ञ को अधूरा ही छोड़कर अवभृत स्नान कर लिया तो उनकी इस निस्पृहता के कारण यज्ञपति भगवान् वासु-देव उन पर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। अब अपने अंशभूत महाराज को कृतार्थ करने और उनके यज्ञों का वास्तविक फल देने के निमित्त भगवान् विष्णु साक्षात् रूप से महाराज पृथु के सम्मुख प्रकट हुए। गरुड़ के ऊपर बैठे हुए भगवान् उसी प्रकार शोभित हो रहे थे मानों सुमेरु शिखर पर जल से भरे विजलीयुक्त बादल विराजमान हों। उनके साथ देवेन्द्र इन्द्र भी थे, गन्धर्व गा रहे थे, ऋषि-मुनि उनकी स्तुति कर रहे थे। सहसा श्रीहरि को प्रकट होते देखकर पृथ्वीपति महाराज पृथु हक्के-बक्के से रह गये, वे किंकर्तव्यविमूढ़ से बने कुछ निर्णय न कर सके कि मुझे क्या करना चाहिये कैसे पूजा करनी चाहिये। इतने में ही भगवान् मुसकराते हुए महाराज

पृथु से कहने लगे—"राजन्! तुम उदास तो नहीं हो गये, तुम्हारे मन में कुछ दुःख तो नहीं हुआ, तुम इन्द्र के ऊपर कुपित तो नहीं हो?"

भगवान् के ऐसे अमृत में सराबोर अत्यन्त ही मधुर वचन सुनकर महाराज कुछ भी न कह सके। वे स्नेह के आवेग में केवल प्रेमाश्रु ही बहाते रहे हाथ जोड़े भगवान् के सम्मुख खड़े-के-खड़े ही रह गये।

तब भगवान् ने कहा—"इस इन्द्र को मैं पकड़कर तुम्हारे सम्मुख लाया हूँ, इसने तुम्हारा अपराध किया है, तुम्हारे अन्तिम यज्ञ को भङ्ग किया है। अब यह अपने कुकृत्य के कारण लज्जित हो रहा है, आपसे क्षमा याचना कर रहा है। देखो, बड़े आदमियों का बड़प्पन इसी में है कि वे छोटे के दोषों पर ध्यान नहीं देते। उनके सब अपराधों को क्षमा कर देते हैं। आप भी इसके प्रति अन्यथा भाव न रखें, इसे हृदय से क्षमा कर दें।"

महाराज पृथु ने आँसू पोंछकर रुद्ध कण्ठ से भर्राई हुई वाणी से इतना ही कहा—"प्रभो! आप ये कैसी बातें कह रहे हैं।" बस, इसके आगे वे कुछ न कह सके उनका हृदय भर आया, वे भगवान् की भक्त-वत्सलता का स्मरण करके रो पड़े।

तब भगवान् बड़े ही स्नेह के साथ बोले—"देखो, राजन्! शरीर और शरीरी, देह और देही, आत्मा और अधिष्ठान ये भिन्न-भिन्न हैं। मूर्ख लोग इस शरीर को ही आत्मा मानते हैं और "मैं" कहने से इस शरीर को ही मैं समझते हैं। वास्तव में दृश्यमान शरीर आत्मा तो है नहीं। आत्मा तो इससे सर्वथा पृथक् है। राग-द्वेष आदि इस शरीर के ही कारण होते हैं, अतः साधु स्वभाव के पुरुष इस शरीर सम्बन्ध से अन्य किसी प्राणी से द्रोह नहीं करते। द्रोह करें भी तो किससे। सर्वत्र वही एक आत्मा तो नाना रूपों में दिखाई दे रहा है।"

पृथु ने हाथ जोड़े-ही-जोड़े कहा—"प्रभो ! यह सब आपकी दुरत्यय माया का ही खेल है।"

प्रसन्न होकर भगवान् बोले—"हाँ, यह सब दैवी माया का ही भ्रम है। जिन्होंने चिरकाल तक गुरुजनों की श्रद्धा से सेवा नहीं की हैं, वे अज्ञानी पुरुष ही इस माया के चक्कर में फँस जाते हैं। यदि तुम जैसे बुद्धिमान् पुरुष भी माया मोहित हो जायँ, तब तो सुश्रूषा, आस्तिकता, धर्माचरण ये सब व्यर्थ ही हो जायँ। दुःख का कारण है ममता। यह मेरा घर, यह मेरा धन, ये मेरे पुत्र-पौत्र। इन्हीं सबकी आसक्ति में फँसकर अज्ञानी जीव किसी से राग करता है, किसी से द्वेष। किन्तु बुद्धिमान् पुरुष इस शरीर को अविद्या, वासना और पूर्व कर्मों से निर्मित समझकर सदा अनासक्त भाव से बर्ताव करते हैं।"

इस पर महाराज पृथु ने कहा—"महाराज ! यह आत्मा-आत्मा लोग कहते हैं आत्मा क्या वस्तु है ?"

भगवान् इतना सुनते ही हँस पड़े और बोले—"राजन् ! आपसे क्या छिपा है, आप सब जानते हैं। आप मुझसे भिन्न मेरे अंश ही हैं। अंश और अंशी में कोई भेद नहीं। फिर भी आप पूछते हैं तो कहता हूँ। आत्मा एक है, शुद्ध है, स्वयं ज्योति है, निर्गुण है, फिर भी गुणाश्रय है। सर्वव्यापक है, आवरणशून्य है, सबका साक्षी है, अनन्यात्मा है, सबसे परे है। वह सबके भीतर है, बाहर है, फिर भी भौतिक पदार्थों से निर्लेप है, जो इस तत्व को यथार्थ रूप से जान लेता है वह शरीर में रहता हुआ भी सर्वथा मुझमें ही स्थित रहता है। वह विकारों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार जल में रहने पर भी कमलपत्र जल से लिप्त नहीं होता।"

महाराज पृथु बोले—"भगवन् ! पृथक् करके कैवल्यपद की प्राप्ति किस साधन द्वारा हो सकती है ?"

भगवान् बोले—"राजन् ! इसका एकमात्र उपाय है, निष्काम कर्मयोग। जो भी कुछ करो, मेरी प्रीति के निमित्त ही करो, जो करो वह मुझे अर्पण कर दो। बिना किसी प्रकार की कामना रखे जो श्रद्धापूर्वक नित्य ही अपने वर्णाश्रमधर्मोचित कार्यों को मेरी प्रसन्नता के निमित्त करता रहता है, उस कर्म से अत्यन्त शीघ्र ही उसका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। पवित्र अन्तःकरण में यह विवेक स्वयं ही उत्पन्न हो जाता है कि मैं देह नहीं। ऐसा प्रत्यग्-दर्शी शुद्ध चित्त वाला पुरुष नित्य मुझमें ही स्थिर रहता है। शान्ति तो मेरा स्वरूप ही है, अतः स्थिर शान्त पुरुष ही केवल पद का अधिकारी हो जाता है। जो पुरुष द्रव्य, ज्ञान, क्रिया और मन के साक्षीभूत मुझ उदासीन निर्विकार आत्मस्वरूप को भली प्रकार जान लेता है, वही शोभनावस्था अर्थात् कल्याण को प्राप्त करता है।"

महाराज पृथु ने पूछा—"प्रभो ! अनुकूल प्रतिकूल घटनाओं से जो क्रियायें होती हैं, वे कैसी होती हैं, उनसे सुख-दुःख की उपलब्धि क्यों होती है ?"

भगवान् बोले—"राजन् ! देखिये, इस शरीर में क्या-क्या है पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पञ्चमहाभूत हैं, मन सहित ११ इन्द्रियाँ हैं सबके अभिमानी देवता हैं और एक चेतना शक्ति है, इन सबसे विशिष्ट परिच्छिन्ना लिङ्ग शरीर में ही सात्विक, राजस तथा तामस इन तीनों गुणों की क्रियायें होती हैं। साक्षी आत्मा तो निर्विकार निष्क्रिय साक्षी मात्र है। जो इन बातों को भली-भाँति समझ गया है, ऐसा मुझमें ही दृढ़ प्रेम रखने वाला मेरा अनन्य भक्त कभी भी दुःख-सुख की प्राप्ति में विकार भाव को प्राप्त नहीं होता। उसके लिये जैसा ही दुःख वैसा ही सुख। वह समझता है, गुण गुणों में वर्त रहे हैं। आत्मा तो इन प्राकृत

गुणों से परे है। संसारी सुख-दुःख उसे सुखी-दुखी नहीं कर सकते। वह तो नित्यतृप्त दुःख-सुख से रहित आनन्द स्वरूप है।"

पृथु महाराज ने पूछा—"महाराज! ये तो ब्रह्मज्ञान की गूढ़ बातें हुईं, मेरे लिये क्या कर्तव्य है, उसका उपदेश करें।"

भगवान् बोले—"देखो, संसार में उत्तम, मध्यम, अधम, मित्र, शत्रु और उदासीन तीन प्रकार के पुरुष होते हैं। उत्तम पुरुष, सबसे मैत्री का भाव रखते हैं, मध्यम पुरुष उनसे मैत्री करते हैं जिनसे अपना कुछ सम्बन्ध हो, शेष सबसे उदासीन रहते हैं। अधम पुरुष वे हैं, जो सदा सर्वदा सभी से मैं मेरी तू तेरी का आश्रय लेकर द्वेष ही करते रहते हैं। मित्र वे कहलाते हैं, जो सदा अपना हित चाहते हैं। उदासीन वे होते हैं, जो न हित चाहते हैं न अहित जिन्हें हमसे कोई प्रयोजन ही नहीं। शत्रु वे होते हैं, जो सदा हमारा अहित चाहते हैं, बुद्धिमान् पुरुष इन तीनों में ही मन से समबुद्धि रखते हैं। इनमें पृथक्त्व बुद्धि करके रागद्वेष नहीं करते। सभी को भगवान् की माया के वशीभूत समझकर सबका मन से आदर करते हैं। तुम ऐसा ही बर्ताव करो। मन सहित इन्द्रियों को जीतकर मेरी सेवा समझकर सबकी सहायता करो, प्रजा की रक्षा करो। तुम्हारे जो मन्त्री हैं उन्हें भी यही समझो कि भगवान् ने इन्हें मेरी सहायता के लिये भेजा है।"

पृथु महाराज बोले—"प्रभो! अब आप मुझे इस प्रजापालन रूपी पचड़े में क्यों फँसाते हैं? इस कार्य का भार किसी दूसरे को दीजिये। मैं तो कल्याणमार्ग का पथिक बनना चाहता हूँ। सर्वात्मभाव से आपकी ही आराधना में तत्पर होना चाहता हूँ।"

भगवान् ने शीघ्रता के साथ कहा—"नहीं, नहीं, राजन्! प्रजा का प्रेम के सहित पुत्रवत् पालन करना ही पृथ्वीपति के लिये कल्याण का प्रशस्तपथ है। प्रजा जो भी पुण्य करती है, उसका षष्ठांश पुण्य पृथ्वीपाल को परलोक में स्वतः ही प्राप्त हो

जाता है। इसी प्रकार पाप का भी उसे छठा हिस्सा मिलता है, वह पतित हो जाता है। इसीलिये तुम वेदज्ञ ब्राह्मणों के बताये मार्ग से, उनकी सम्मति लेकर प्रजा का पालन करो। यही आपका प्रधान साधन है।"

महाराज पृथु बोले—"प्रभो! आपकी आज्ञा का तो मुझे पालन करना ही है, किन्तु गृहस्थी में आसक्त होने के कारण हम साधु सङ्गति से वञ्चित हो जायँगे। राज-काज में फँसे होने के कारण साधु महात्माओं के यहाँ भी सदा न पहुँच सकेंगे। जब तक सत्सङ्गति नहीं मिलती, तब तक परमार्थ मार्ग में उन्नति नहीं होती, आगे बढ़ नहीं सकते। इस राज करने में यह एक बड़ा दोष है।"

इस पर भगवान् बोले—"राजन्! आप घबड़ाते क्यों हैं। अजी, जो निष्काम भाव से भगवत् सेवा समझकर सभी कार्यों को करता है, अपने वर्ण धर्म और आश्रम धर्मों का प्रभु प्रीत्यर्थ पालन करता है। उसके समीप सिद्ध स्वतः, सत्सङ्ग के निमित्त आते हैं। सिद्ध पुरुषों से किसी के मनोभाव तो छिपे रहते नहीं। वे तो सदा अधिकारी को खोजते रहते हैं। साधक की अपेक्षा उन्हें योग्य अधिकारी को उपदेश देने की अधिक चटपटी लगी रहती है। आपके यहाँ घर बैठे स्वतः सनकादि महासिद्ध आकर आपको अपने आप उपदेश देंगे।"

भगवान् के ऐसे मधुर कृपा-पूर्ण वचन सुनकर महाराज पृथु बड़े प्रसन्न हुए। वे भगवान् के कृपाभार को सह सकने में समर्थ न होकर नत हो गये। तब भगवान् उनके ऐसे शील स्वभाव को देखकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"राजन्! मैं तुम्हारे शील, स्वभाव, सदाचार और सरलता आदि गुणों से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। अब आप मुझसे जो भी कुछ चाहें अपना अभीष्ट वर माँग लें।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! भगवान् के द्वारा वर याचना की आज्ञा श्रवण करके महाराज पृथु सहम गये। वे कुछ भी नहीं बोले, लज्जित भाव से पृथ्वी की ओर देखते रहे और अपने नख के अग्रभाग से पृथ्वी को कुरेदने लगे।"

छप्पय

राजन् यह तनु नाशवान् क्षणभंगुर गुणमय।
आत्मा निर्गुण शुद्ध सर्वगत साक्षी आश्रय॥
करहिँ दान तप धर्म विविध विधि यज्ञ रचावें।
करिकें अरपें मोहि परम पद ते नर पावें॥
पृथु! पृथ्वी पालन करो, मेरी सेवा जानिकें।
करहु प्रेम सब जननितें, सबमहँ मोकूँ मानिकें॥

महाराज पृथु का प्रेमोद्रेक

[२७१]

स आदिराजो रचिताञ्जलिर्हरिम्
विलोकितुं नाशकदश्रुलोचनः ।
न किञ्चनोवाच स वाष्पविक्लवो
हृदोपगुह्यामुमधादवस्थितः ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० २० अ० २१ श्लोक)

छप्पय

हरि आयसु सिर धारि चरनमहँ शीश नवायौ ।
परचो पैर पै शक्र उठायो हिये लगायौ ॥
पुनि विधिवत अति प्रेम सहित प्रभु पूजा कीन्हीं ।
अति प्रसन्न हरि भये प्रेमकी आशिष दीन्हीं ॥
हरि दरशन नहिँ करि सकें, प्रेम अश्रु नयननि भरे ।
कण्ठ रुद्ध निश्शब्द हरि, हियतें आलिङ्गन करे ॥

भगवान् की कोई घोर तपस्या करके ही प्रसन्न करना चाहे

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! भगवान् की कृपा का स्मरण करके आदिराज महाराज पृथु के नेत्रों में जल भर आया । आँखों में प्रेमाश्रु भर आने के कारण वे भगवान् के दर्शन करने में भी समर्थ न हुए । कण्ठ रुद्ध हो जाने के कारण वे कुछ कह भी न सके । वह अपने हृदय से ही इन श्रीहरि का आलिङ्गन करते हुए दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधे खड़े-के-खड़े ही रह गये ।"

तो असम्भव है। तपस्या से पुण्य बढ़ता है और पुण्य से संसारी सुख। कोई चाहे कि हम यज्ञों के द्वारा ही श्रीहरि को प्रसन्न कर लेंगे तो यह भी उसकी भूल है। अश्वमेधादि यज्ञों से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है और वे क्षयिष्णु नाशवान् तथा सातिशयादि दोषों से युक्त हैं। भगवान् को यदि कोई प्रसन्न कर सकता है तो वही कर सकता है, जिसका सबमें समान भाव हो। जो अपकार करने वाले के प्रति भी द्वेष न रखता हो।

एक मठ में बहुत से भगवद्भक्त साधक रहते थे। वे घर-घर से भिक्षा माँग लाते थे और निरन्तर भगवान् के भजन-कीर्तन में संलग्न रहते थे। उनमें एक बहुत ही उच्चकोटि के थे। वे न किसी से राग करते थे न द्वेष, सब में समान भाव से उन सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर को देखते थे। खलों का तो यह स्वभाव ही होता है कि अकारण साधु पुरुषों से द्वेष करना और उन्हें पीड़ा पहुँचाते रहना। एक दुष्ट प्रकृति का पुरुष था, उनसे वैसे ही द्वेष करता था। महात्मा को तो कुछ पता ही नहीं था। एक दिन वह अपने सगे भाई से लड़ाई कर रहा था। दोनों एक दूसरे पर क्रोध में भरकर प्रहार कर रहे थे। ये महात्मा भी भिक्षा माँगते हुए उधर आ निकले। साधु पुरुषों का स्वभाव ही होता है कि दो लड़ते हुए पुरुषों को समझा देना उनमें बीच-बिचाव कर देना। महात्मा जी ने भी बीच में आकर उन दोनों को समझाते हुए कहा—"अरे, भैया! लड़ते क्यों हो, देखो, लड़ाई-झगड़ा ठीक नहीं। प्रेमपूर्वक रहो।" इतना कहकर वे दोनों के बीच में पड़कर उनको हटाने लगे। उस दुष्ट को आया क्रोध कि यह साधु हमारे काम में विघ्न करता है, हमें गुरु बनकर शिक्षा देता है। अतः भाई पर प्रहार करना छोड़कर महात्मा के सिर पर जोर से एक लाठी मारी महात्मा का सिर फट गया और वे अचेत होकर गिर पड़े। उन्हें शरीर की सुधि न रही।

जब मठ के दूसरे सन्तों ने सुना तो वे शीघ्रता से उनके समीप आये और उठाकर मठ में ले गये। उनका उपचार किया घाव में औषधि लगाई, पट्टी बाँधी और चेतना लाने के लिये मुख में रुई से गरम-गरम दूध छोड़ने लगे। महात्मा को कुछ-कुछ चेत हुआ। तब एक वृद्ध से सन्त ने यह देखने के लिये कि इन्हें चेत हुआ या नहीं उनसे पूछा—"महात्मन्! बताइये आप पहिचानते हैं, आपके मुख में दूध कौन डाल रहा है?"

क्षीण स्वर में उन समदर्शी महात्मा ने उत्तर दिया—"थोड़ी देर पहिले जिसने मारा था, वही दूध पिला रहा है। वे ही मारते हैं, ताड़ते हैं, शिक्षा देते हैं और वे ही रक्षा भी करते हैं।" अचेतावस्था में भी समभाव की ऐसी हठ भावना देखकर भगवान् तुरन्त प्रकट हुए और उन्हें अपने दर्शनों से कृतकृत्य किया।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! भगवान् के यहाँ ऐश्वर्य की सामग्रियों की तो कुछ कमी ही नहीं। वे इन ऊपरी आडम्बरों से प्रसन्न नहीं होते, उनकी प्रसन्नता तो भाव के ऊपर अवलम्बित है। यदि महाराज पृथु १०० अश्वमेधों का ही आग्रह करते रहते और इन्द्र उसमें निरन्तर विघ्न करता तो दोनों ओर से सङ्घर्ष होता, लड़ाई-झगड़ा, क्रोध-द्वेष, शापा-शापी, मारा-मारी तक की नौबत आ जाती। यज्ञ-भूमि रणभूमि बन जाती, प्रेम के स्थानों में द्वेष का बीजारोपण होता। जब ब्रह्माजी की आज्ञा शिरोधार्य करके महाराज पृथु झुक गये, नत हो गये तो इससे लोकपितामह ब्रह्मा, जगत्पति भगवान् विष्णु उन पर प्रसन्न हुए और उन्हें अपने साक्षात् देव-दुर्लभ दर्शन दिये। भगवान् जो भी आज्ञा देंगे, मेरे कल्याण की ही देंगे। यज्ञों द्वारा मैं उन्हीं का पूजन कर रहा हूँ। यही सब सोचकर महाराज पृथु ने श्रद्धा सहित सर्वात्मा श्रीहरि के सम्मुख सिर झुका दिया उनके शुभ शासन को शिरोधार्य किया।

महाराज की ऐसी विनय देखकर भगवान् ने शक्र को संकेत किया कि अपने अपराध के लिये वह महाराज से क्षमा-याचना करें। श्रीहरि का संकेत पाते ही अमरपति इन्द्र उनके पैरों में पर गये। अपने पैरों में पड़े देवेन्द्र को देखकर महाराज पृथु का हृदय भर आया और अत्यन्त ही स्नेह से इन्द्र को बलपूर्वक उठाकर अपने हृदय से चिपका लिया। अश्रु विमोचन करते हुए देवेन्द्र बोले—"महाराज! मैंने आपका बड़ा भारी अपराध किया है। अपने क्षुद्र स्वभाव से बड़ी कुटिलता की है कि आप अपनी उदारता से मेरी उस कुटिलता को भूल जायँगे, मुझे क्षमा कर देंगे ऐसी मैं आपसे आशा रखता हूँ।"

अत्यन्त ही स्नेह के स्वर में इन्द्र के ऊपर हाथ फेरते हुए महाराज पृथु बोले—"देवेन्द्र! आप यह कैसी बातें कह रहे हैं। मेरा लक्ष्य यज्ञों की पूर्ति तो था नहीं। १०० यज्ञ करके मुझे कोई पद प्राप्त तो करना नहीं था। मेरा तो एकमात्र उद्देश्य प्रभु प्राप्ति ही था। मेरे इन शुभ कर्मों से सर्वान्तर्यामी श्रीहरि प्रसन्न हों यही मेरा ध्येय था, सो बिना यज्ञों की पूर्ति के ही प्रभु प्रसन्न हो गये। यदि घर के कोने में ही शहद मिल जाय तो फिर उसकी प्राप्ति के लिये पर्वतों में मारे-मारे फिरने से क्या लाभ? आपने तो मेरे ऊपर कृपा की, झंझटों से बचा दिया। आप इस प्रकार आग्रह न करते तो भगवान् इतनी सरलता से प्रसन्न थोड़े ही हो सकते थे। आप अपने मन में तनिक भी विचार न करें। न लज्जित ही हों, आपके प्रति मेरा कोई बुरा विचार नहीं। कुछ यत्किञ्चित् विद्वेष पहिले रहा भी हो तो वह सब श्रीहरि के दिव्य अनुशासन से धुल गया, स्वच्छ हो गया।" इतना कहकर महाराज ने देवेन्द्र को हृदय से क्षमा कर दिया।

अब महाराज को चेत हुआ "अरे, मैं तो ऐसा बेसुध हो गया कि भगवान् का पूजन भी नहीं किया। उसी समय तुरन्त पूजा की

दिव्यातिदिव्य बहुमूल्य सामग्रियाँ मँगाई गयीं। उनके द्वारा महाराज ने बड़े विधि विधान से भगवान् का पूजन किया। पूजन के अनन्तर उन्होंने प्रभु के पादपद्मों को प्रेमपूर्वक पकड़कर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। महाराज का हृदय भर रहा था, उनका अनुराग क्षण-क्षण में नूतन होता जाता था। भगवान् के कमल-दल-सदृश करुण चरणों के स्पर्श से उनकी तृप्ति होती ही नहीं थी। भगवान् का हृदय भी नवनीत के समान पिघल रहा था। जैसे अत्यन्त तेज वाली गौ अपने हाल के बच्चे के ऊपर स्नेह प्रदर्शित करती हुई चाटती है उसी प्रकार साधुओं के सुहृद कमल-दल लोचन सर्वात्मा श्रीहरि अपनी दया से ओत-प्रोत दृष्टि द्वारा महाराज को देखते-के-देखते ही रह गये। उनकी दया से आर्द्र हुई दृष्टि पृथु के आनन पर चिपक गई। यद्यपि वे जाने को उद्यत थे, अन्तर्धान होने के लिये तत्पर थे किन्तु भक्त के भक्तिबन्धन में ऐसे कसकर बँध गये कि उस बन्धन को तुड़ाकर न भाग सके। स्नेह की दृढ़ रज्जु को सर्व समर्थ होने पर भी तोड़ने में वे असफल ही रहे। वे स्नेहपाश में जकड़े, गरुड़जी के उन्नत कन्धे को पकड़े खड़े-के-खड़े ही रह गये। यद्यपि देवता पृथ्वी का स्पर्श नहीं करते, किन्तु प्रभु अपने आपे को भूल गये थे, उनके कोमल चरण कमल कठोर अवनि का स्पर्श कर रहे थे। भक्त और भगवान् दोनों की ही एक-सी दशा थी, दोनों ही अपने आपे में नहीं थे। महाराज पृथु के सरसीरुह सदृश विशाल विकसित नेत्र प्रेमाश्रुओं से ऐसे भर गये थे कि वे भली-भाँति भगवान् की झाँकी भी न कर सकते थे। कण्ठ ऐसा रुद्ध हो गया था कि उससे एक शब्द प्रयत्न करने पर भी नहीं निकलता था। हृदय से उनका आलिङ्गन कर रहे थे। अपने करार विन्दों से प्रभु के पादारविन्दों को प्रेमपूर्वक कसकर पकड़े हुए थे। दोनों ही संज्ञाशून्य शरीर की सुधि भुलाये प्रेमासव में छके से स्तब्ध खड़े थे। भगवान् जा नहीं सकते थे, भक्त उन्हें छोड़

नहीं सकते थे। इस प्रकार वह दृश्य देखने ही योग्य था किसी परम भाग्यशाली के भाग्य में ऐसा दृश्य देखने का सौभाग्य होता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! प्रेम में आदान-प्रदान की प्रथा प्राचीन है। आदान-प्रदान से प्रेम वृद्धि को प्राप्त होता है। वह प्रेम का पोषक और अभिव्यक्ति कारक है। अतः फिर भगवान् ने कहा—"राजन्! मेरी प्रसन्नता व्यर्थ न जाय, अतः तुम मुझसे जो भी वस्तु माँगोगे वही मैं दूँगा।" विदुरजी! भगवान् की ऐसी बात सुनकर महाराज पृथु कुछ भी नहीं बोले। वे भगवान् के श्रीमुख को एक टक भाव से निहारते-के-निहारते ही रह गये।"

छप्पय

पृथु पकरे प्रभु पाद पद्म पावन अति मनहर।
सबै सदा मधुमत्त होहिँ पी भक्त भ्रमर वर॥
पलकनि पौंछि पराग नयन पयतें पुनि धोये।
नखद्युतिके आलोकमाहिँ प्रिय पुनि-पुनि जोये॥
प्रभु प्रभुपनकूँ भूलिकें, पग पृथिवी परसत भये।
भक्त और भगवान ऊ, दोनों वैसुधि बनि गये॥

महाराज पृथु का प्रभु से विचित्र वरदान

[२७२]

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न
यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो
विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २० अ० २४ श्लो०)

छप्पय

भक्त बछल भगवान कहें—नृपवर वर माँगो ।
मोइ कृतारथ करो निस्पृहा ऐसी त्यागो ॥
अश्रु पौंछि पृथु कहें—प्रभो ! अब यह वर दीजे ।
होहिँ सहस दश कान, प्रतिज्ञा पूरी कीजे ॥
घर बैठे सब ठौरतें, सुयश तुम्हार सुन्यो करूँ ।
सुनत श्रवन गुन थकित नहि, होहिँ हिये तव छवि धरूँ ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब भगवान् ने महाराज पृथु से बार-बार वरदान माँगने को कहा, तब महाराज बोले—हे स्वामिन् ! मैं आपसे ऐसी कोई भी सांसारिक वस्तु नहीं चाहता, न कोई ऐसा स्थान प्राप्त करना चाहता हूँ जहाँ महापुरुषों के मुख से निकला हुआ सुयश सुधा-रूपी मधुर मरकन्द पान करने को न मिले । यदि आप वर देना ही चाहते हैं तो मुझे यही वर दीजिये कि आपके गुण श्रवण के निमित्त मेरे दस हजार कान हो जायँ, यही मेरा श्रेष्ठतम वर है ।"

जिस सुरा में उत्कट और बुरी गन्ध आती है, उसे पीने में क्या सुख होता होगा, इसे सुरापी के अतिरिक्त दूसरे लोग जान नहीं सकते। जिसे देखने से उल्टी हो जाती है जिसका स्मरण आते ही जी मिचलाने लगता है, उस मांस में क्या स्वाद होगा, इसे मांसाशी के सिवाय दूसरा जान नहीं सकता। जिन अङ्गों से सदा दुर्गन्धि-युक्त मल मूत्र आदि अशुचि पदार्थ सदा स्रवित होते रहते हैं उनके सेवन स्पर्शादि से क्या सुख होता होगा? इसका अनुभव संसारी कामियों के अतिरिक्त कौन कर सकता है। इसी प्रकार भगवान् की नित्य कथा सुनने से क्या सुख होता है, इसे भगवद् भक्तों के अतिरिक्त दूसरा समझ नहीं सकता। प्रायः लोग यह प्रश्न करते हैं, "क्योंजी, वे ही हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु, वे ही सूकर नृसिंह, वे ही रावण विभीषण, वे ही राम लक्ष्मण। वे ही कंस शिशुपाल, वे ही कृष्ण बलराम। एक बार सुन ली, दो बार सुन ली, दस बार सुन ली। अब उसे ही बार-बार क्या सुनना, पिसे को क्या पीसना। तुम्हारी तृप्ति क्यों नहीं होती।" इसका सरल-सा उत्तर यही कि जिसका जो आहार बन गया है, उसकी उससे कभी तृप्ति नहीं हुआ करती। उसे उस वस्तु का व्यसन पड़ जाता है। भोजन से कभी किसी को तृप्ति हुई है? प्रातः भली प्रकार ठूँस-ठूँस कर पेट को भर लिया, शाम को फिर भूख लग आती है, अफीमची को एक दिन अफीम न मिले, व्याकुल हो जाता है, भँगेड़ी को भाँग के बिना, गंजेड़ी को गाँजे के बिना, शराबी को शराब के बिना सम्पूर्ण संसार सूना-सा दिखायी देता है। अपनी इष्ट वस्तु से जिसे तृप्ति हो जाय तो समझो वह उसका इष्ट ही नहीं। रुपया कमाने वालों की कभी रुपयों से तृप्ति हुई है। वे ही सोने, चाँदी, ताँबे, कागज के सिक्के हैं, अपने पास दस रहे तो भी वैसे, सौ रहे तो भी वैसे, हजार लाखों कितने भी रहें, तृप्ति किसी को नहीं। हजारपति लाखपति होना चाहता है, लखपति

करोड़पति बनने को उत्सुक है। करोड़पति पद्मपति बनना चाहता है। इसी का नाम है व्यसन। विशेष रूप से निरन्तर खाते रहना और तृप्ति न होना यही व्यसन का तात्पर्य है। संसारी व्यसनों में फँसे लोग तो सर्वत्र दिखायी देते हैं, किन्तु जिन्हें भगवन्नाम् कीर्तन, भगवत् कथा श्रवण का व्यसन है, जो इनके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते, ऐसे पुरुष संसार में दुर्लभ हैं। जिन्हें संसारी कथा रुचिकर प्रतीत न होकर "भागवती कथाओं" में ही सदा रमे रहें ऐसे पुरुष तो संसार में दुर्लभ हैं। उनकी कोई आन्तरिक इच्छा रहती भी है तो यही कि सर्वत्र भागवती कथाओं का प्रचार और प्रसार हो, सर्वत्र हरिनाम-सङ्कीर्तन की सुमधुर ध्वनि गूँजती रहे। कोई क्षण ऐसा न बीते जिसमें कृष्ण कथारूपी पुनीत पीयूष पान करने को प्राप्त न हो सके। वे सबसे इसी की याचना करते हैं, सबसे इसी के सम्बन्ध में बातें करते हैं, सभी से कथा कीर्तन के प्रसार का ही आग्रह करते हैं। ऐसे पुरुष नहीं, वे तो नर रूपधारी हरि ही हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! भक्त और भगवान् के मिलने में एक अपूर्व सुख होता है। अब उस सुख की उपमा किससे दूँ, यों समझिये कि पहिले ही पहिले जैसा सुख आपको श्रीविदुरानी जी से मिलने में हुआ होगा, उससे लाखों करोड़ों गुना सुख भक्त को भगवान् से मिलने में होता है।"

यह सुनकर विदुरजी हँस पड़े और लजाते हुए बोले—"महाराज! आपने भी कैसी बेढङ्गी उपमा दे डाली।"

यह सुनकर मुस्कराते हुए मैत्रेय मुनि बोले—"अब विदुरजी! मैं क्या बताऊँ। संसार में और कोई इतनी सरस उपमा है ही नहीं। दो मन से मिले हुए हृदय जब संयोगवश शरीर से मिलते हैं तो उस मिलन में एक अपूर्व सुख का प्रादुर्भाव होता है। महाराज पृथु भगवान् को पाकर अपने आपे को भूल गये। भगवान्

भी अपनी भगवत्ता को बिसारकर पृथ्वी के पुरुषों के समान भूमि पर खड़े हो गये। विदुरजी ! आदान-प्रदान से प्रेम चमक उठता है। जितना ही दोनों के बीच में सङ्कोच होगा, उतनी ही प्रेम की न्यूनता समझनी चाहिये। भगवान् ने महाराज से कहा—"तुम मुझसे वरदान माँगो।" महाराज पृथु चुप हो गये, इसका कुछ उत्तर ही न दिया। माँगना तो अभाव में होता है, जो वस्तु हमारे पास नहीं होती, उसकी हम दूसरों से याचना करते हैं। पृथ्वीपति पृथु के समीप किसी वस्तु का अभाव ही नहीं था, वे भगवान् से माँगें भी तो क्या माँगें। वे कुछ माँगना नहीं चाहते थे, भगवान् देने पर तुले हुए थे। अतः वे बड़े मधुर स्वर में बोले—"राजन् ! देखो, तुमने मेरी पूजा की, नाना उपहार मुझे अर्पण किये, तुम्हारी प्रीति के निमित्त मुझे किसी वस्तु की इच्छा न रहने पर भी वे सब उपहार मैंने स्वीकार कर लिये, अब तुम भी मेरी प्रसन्नता के निमित्त मुझसे कुछ वरदान माँग लो। जो भी तुम्हारी इच्छा हो, सङ्कोच का काम नहीं। कोई भी इन्द्रलोक तथा परलोक सम्बन्धी वस्तु नहीं है जो मेरे पास न हो और जिसे मैं तुम्हारे माँगने पर दे न सकूँ। तुम्हें जो भी अभीष्ट हो उसे ही माँग लो, इससे मुझे देने में बड़ा सुख होगा। देना लेना खाना खिलाना यही तो प्रेम प्रदर्शित करने के उपाय हैं।"

यह सुनकर महाराज पृथु सङ्कोच के साथ बोले—"भगवन् ! आप मुझसे वरदान माँगने को कह रहे हैं। यह मेरा सौभाग्य है, आप सभी वरदानियों में श्रेष्ठ हैं। आपके लिये कुछ भी अदेय नहीं। आप अविनाशी, सत्यस्वरूप, अज, निर्गुण और अक्षर हैं। आप जिस पर अपनी करुणावश प्रसन्न हो जायँ और वह आपसे इन नाशवान्, असत्य, क्षणभंगुर सांसारिक तुच्छ विषय भोगों को माँगे तो उससे बढ़कर मूर्ख संसार में और कौन होगा ?"

भगवान् ने कहा—"नहीं ! इस लोक के सुखों के लिये मैं नहीं कहता, स्वर्गीय सुख माँगो, इन्द्रपद, ब्रह्मपद, शिवलोक, विष्णुलोक जिस लोक का भी आधिपत्य तुम चाहो माँग लो।"

इस पर पृथु बोले—"महाराज, यह तो सब एक ही बात है। मिट्टी और सुवर्ण में अन्तर क्या है ? वह चमकीली मिट्टी है, यह मटमैली मिट्टी है। जैसे ही यह लोक वैसा ही स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक।

यहाँ साधारण स्त्रियाँ हैं, वहाँ दिव्य अप्सरायें हैं। ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी नाशवान् हैं सभी क्षयिष्णु हैं।"

इस पर भगवान् ने कहा—"तब फिर मोक्ष माँग लो भैया, जिससे सदा को आना-जाना बन्द हो जाय।"

महाराज पृथु बोले—"उस रांड़ रुण्ड-मुण्ड मोक्ष को लेकर मैं क्या करूँगा। जिसमें आपके गुण श्रवण करने का सुअवसर प्राप्त न हो।"

भगवान् बोले—"तो भैया, और जो भी तुम्हें अच्छा लगे वही माँग लो। कुछ कहो भी तो।"

महाराज पृथु ने कहा—"अच्छा, महाराज ! मैं माँगता हूँ, फिर देना पड़ेगा, फिर टाल मटूल मत कर देना।"

भगवान् बोले—"यह भी कोई बात हुई। माँगते तो हो नहीं। माँगो, तुम जो भी माँगोगे वही मैं दूँगा।"

महाराज पृथु ने कहा—"प्रभो ! मैं आपसे यही वरदान माँगता हूँ कि आपके सुयश श्रवण करने के लिये मेरे दस हजार कान हो जायँ।"

यह सुनकर भगवान् बड़े जोरों से हँस पड़े और बोले—"इतनी-सी बात के लिये ही तब से इतना सङ्कोच कर रहे थे। यह क्या बड़ी बात है। मेरे यहाँ कानों की तो कमी है ही नहीं। योगमाया

को आज्ञा दे दूँगा, आपके सिर में कान-ही-कान लगा दे। कानों-में-कान, आँखों में कान, नाक में नथुनों में कान, नकपुटी पै कान, कपोलों में कान, गले में कान, कन्धों पै कान, बाहुओं में कान, हृदय में कान, पीठ में कान, अगलों में कान, बगलों में कान, कटि में कान, जङ्घाओं में कान, उरुओं में कान, पैरों में कान। तुम्हारे शरीर भर में कान-ही-कान लगवा दूँगा।"

यह सुनकर हँसते हुए महाराज पृथु बोले—"तो प्रभो आप मुझे कुरूप बनाना चाहते हैं। लोग देखते ही कर्ण गिरि कहने लगेंगे।"

भगवान् बोले—"भाई, तुमने ही तो दस हजार कानों का वरदान माँगा है।"

महाराज पृथु बोले—"नहीं, भगवन्! मेरा तात्पर्य यह है कि सुनने को कान तो दो ही रहें, किन्तु उन दो में ही इतनी शक्ति हो कि दस हजार कोश पर भी आपके गुणानुवादों का गायन हो रहा हो तो मैं यहाँ बैठे-ही-बैठे सुनता रहूँ। कोई क्षण ऐसा न व्यतीत हो, जिसमें आपके गुणानुवाद श्रवण करने को न मिलें।"

भगवान् ने कहा—"राजन्! आप मेरे लीला गुण श्रवण के लिये इतने उत्सुक क्यों हैं? स्वयं ही आप पढ़ लिया करें।"

इस पर महाराज पृथु बोले—"महाराज! वस्तु तो एक ही है, वह पात्र भेद से अच्छी और बुरी हो जाती है। वर्षा का जल वही है, गङ्गाजी में पड़ते ही पापों का नाश करने वाला गङ्गाजल ही जाता है, वह मोरी में मल-मूत्र के गड्ढे में पड़े तो अस्पृश्य हो जाता है, समुद्र में पड़ते ही खारा हो जाता है। गाली एक ही है, उसी को कोई दूसरा दे तो क्रोध और रोष आता है, वही यदि ससुराल में साली सरहजों के मुख से निकलती है तो हृदय में सरसता का संचार करती है। भोजन उसी अन्न का बनता है उसी

को, रसोया बनाकर खिलावे तो दूसरा स्वाद है और यदि वह घर-वाली के हाथ का बना हो और तिरछी चितवन के साथ परसा गया हो तो वह अमृतोपम बन जाता है। सो, महाराज ! आपके गुण तो वे ही हैं किन्तु महत् पुरुषों के मुखारविन्द से निसृत होने के कारण उनका रस और भी बढ़ जाता है, वह और भी अत्य-धिक आकर्षक और कर्णप्रिय बन जाता है। आपके चरणकमल मकरन्द के कमनीय कणों से युक्त तो तापत्रय नाशक पापहारा पवन है, वह तत्व-मार्ग से भ्रष्ट भूले भटकते पतित प्राणियों की योगभ्रष्ट अवस्था को पुनः उज्जीवित करने वाला है। वे पुनः परमार्थ पथ के पथिक बन जाते हैं, जहाँ से भूले हैं, वहाँ फिर आ जाते हैं, अतः मुझे तो आपके सुयश श्रवण के अतिरिक्त अन्य किसी भी अनुपम वर की आवश्यकता नहीं। आप मुझे सर्वदा अपनी कथा श्रवण की शक्ति प्रदान कीजिये। देखिये, लक्ष्मीजी तो फल की अधिष्ठातृ देवी ही हैं, यदि धन से ही सुख होता तो वे आपके सुयश श्रवण के लिये सदा उत्सुक क्यों बनी रहतीं। उन्हें सदा आपकी कथा सुनने की ही चटपटी लगी रहती है, क्योंकि आपकी कथा में रस ही ऐसा है कि जिसने साधु-समाज के मध्य में, कथा मण्डप में बैठकर श्रद्धा सहित एक बार भी आपकी कमनीय कथा सुन ली, भूल से भी भागवती कथा उसके कानों में पड़ गयी तो फिर ऐसा कौन सहृदय, गुणज्ञ, रसज्ञ पुरुष होगा कि फिर उन्हें छोड़ दे। आप मुझसे कथा का महत्व क्यों पूछते हैं। इन माता लक्ष्मीजी से पूछो इसमें स्वारस्य है।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! महाराज पृथु की ऐसी बात सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और इसी प्रसङ्ग को संसार में प्रकट करने को महाराज से इसी सम्बन्ध में और भी प्रश्नोत्तर करने लगे।"

छप्पय

सुयश सुधा मकरन्द चरन कमलनितें निस्सृत ।
साधु सङ्ग करि पान होहि सबरो जग विस्मृत ॥
कमला जाके पान हेतु पगली-सी डोलें ।
सज्जन पीवहिँ सतत दूसरी बात न बोलें ॥
साश्रु नयन गद्गद गिरा, कहें परस्पर सन्तजन ।
इहि बिधिहरिगुनश्रवन करि, अनत जाहि नहिँ मोर मन ॥

महाराज पृथु का पाद-सेवन सम्बन्धी वर

[२७३]

भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो
व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम् ।
भवत्पदानुस्मरणादृते सताम्
निमित्तमन्यद् भगवन्न विद्महे ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० २० अ० २६ श्लोक)

छप्पय

पद्मा प्रभुके पाद पद्म प्रतिपहर पलोटें ।
सन्त पुरुष ऊ सदा धूरि पगकीमहँ लोटें ॥
इच्छा मेरी जिही पलोटूँ तिनि पाइनिकूँ ।
करुणासागर ! कृष्ण ! कृतारथ करूँ करनिकूँ ॥
लक्ष्मी मोतें लड़िङ्गी, प्रभु तिनिकूँ समुझाइलें ।
जग माताकूँ घुड़किकें, सुतकूँ हिये लगाइलें ॥

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन इस प्रकार भक्ति के ९ अङ्ग बताये हैं। वैसे

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! महाराज पृथु कहते हैं—हे भगवन् ! आप मायिक गुणों के कार्यों से रहित हैं, इसीलिये साधु पुरुष आपका भजन करते हैं। क्योंकि प्रभो ! संसार में आपके चरण कमलों के स्मरण करने के अतिरिक्त सज्जन पुरुषों का कोई और प्रयोजन हम समझते ही नहीं।"

तो इनमें से किसी भी एक का निष्ठापूर्वक सेवन करने से परम-पद की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु इनमें श्रवण को प्रधान बताया गया है, जब तक भगवद्गुण-श्रवण में अनुराग न होगा, तब तक भक्ति की उपलब्धि कठिन है, असम्भव है, दुस्साध्य है। भगवद् गुणलीला करते-करते कीर्तन और स्मरण स्वतः होने लगते हैं। जिस प्रकार श्रवण से कीर्तन स्मरण की उपलब्धि होती है उसी प्रकार पाद-सेवन से आत्म-समर्पण तक साधक पहुँचता है। पाद-सेवन का सौभाग्य सभी को प्राप्त नहीं हो सकता। जब तक पाद-पद्मों में अनुराग न होगा, तब तक उनके सेवन में सुख भी न होगा। संसार में पैर तो प्रायः सभी पुरुषों के एक से हैं, किन्तु हमें उन्हीं के पैर छूने में पैरों की सेवा करने में सुख का अनुभव होता है, जिनके प्रति हृदय में भक्ति भाव हो। अतः भक्त के लिये प्रधानतया दो ही साधन हैं भक्त और भगवान् के गुणों का श्रवण करे और उनके पादपद्मों की परिचर्य्या करे। इन दो साधनों से ही साध्यतत्व की उपलब्धि हो सकती है। पुरुष कृतार्थ हो सकता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"बिदुरजी ! जब महाराज पृथु ने भगवान् से उनके गुण श्रवण करने के लिये दस सहस्र कानों की शक्ति माँगी तब भगवान् ने उनसे कहा—"राजन् ! इतना ही या कुछ और भी चाहते हो ?"

महाराज बोले—"हाँ, भगवन् ! इतना ही बहुत है, एक और इच्छा थी, किन्तु वह तो लड़ाई-झगड़े की बात है। आपको भी सङ्कोच में पड़ना पड़ेगा।"

भगवान् शीघ्रता के साथ बोले—"नहीं, नहीं, नहीं। सङ्कोच की कौन-सी बात है। तुम माँग लो जो तुम्हें माँगना हो। मेरे समीप भक्तों के लिये कुछ भी अदेय नहीं है।"

इस पर पृथु महाराज बोले—"भगवन् ! मैं देखता हूँ, ये लक्ष्मीजी अपनी सुडौल जङ्घाओं पर रखकर आपके चरणार-

विन्दों को सदा अपने कोमल कर-कमलों से पलोटती रहती हैं, इसलिये मुझे बड़ी उत्सुकता हो रही है कि न जाने इन मृदुल मनोहर चरणों में ऐसा कौन-सा मादक आसव भरा हुआ है कि जिनकी गन्ध से ही जगत् में सबसे अधिक चञ्चला आप पुराण-पुरुष की ये प्रिय पत्नी सदा उन्हीं में लिपटी रहती हैं, कभी उन्हें छोड़ती ही नहीं।"

भगवान् हँस पड़े और बोले—"तो क्या तुम्हारी भी इच्छा है कि लक्ष्मीजी की भाँति तुम भी सदा मेरे पैरों पर लोटा करो।"

पृथु महाराज सरलता के साथ बोले—"महाराज! इच्छा क्या है, उत्सुकता है कि इस रस का मैं भी आस्वादन करके देख लूँ। किन्तु मुझे भय इन जगज्जननी लक्ष्मीजी से ही है। एक वस्तु को जहाँ दो चाहने वाले हो जाते हैं, वहाँ सौतियाडाह, लड़ाई-झगड़ा निश्चित ही है, इसीलिये हम दोनों में परस्पर कलह छिड़ जाने का भय है, इसीलिये कुछ हिचकता हूँ।"

भगवान् बोले—"अरे, भाई! इसमें लड़ाई-झगड़े का क्या काम है? तुम दो जने हो, मेरे पैर भी दो हैं, एक-एक बाँट लो। लड़ाई-झगड़े का अवसर ही न रहेगा।"

पृथु महाराज बोले—"तो भी महाराज! लड़ाई रुकेगी नही, अवश्य ही होगी।"

भगवान् बोले—"क्यों, फिर लड़ाई का क्या काम भाई! जब तक बटवारा नहीं होता तभी तक लड़ाई है। बटवारा हो गया, अलग-अलग हो गये तो झगड़ा समाप्त हो गया।"

महाराज पृथु बोले—"नहीं, महाराज! बँटवारा कहाँ हुआ, आपने मुझे दायाँ पैर सेवा के लिये दिया, लक्ष्मीजी बायें की सेवा करने लगीं। मैं तो बच्चा ही ठहरा, मेरी इच्छा हुई, देखूँ बायें पैर की सेवा में क्या स्वाद है, लक्ष्मीजी ने नहीं माना तो फिर हम दोनों में झगड़ा होगा ही।"

भगवान् बोले—"भैया ! झगड़ा टण्टा ठीक नहीं। आपस में राजी-नामा कर लेना।"

इस पर पृथु अपनेपन के स्वर में बोले—"महाराज ! राजी-नामा तो असम्भव है, झगड़ा-टण्टा अवश्य होगा, किन्तु उसकी मुझे चिन्ता नहीं। क्योंकि मेरा पक्ष प्रबल है।"

भगवान् बोले—"क्यों भाई, तुम्हारा पक्ष प्रबल कैसे है ? शीघ्रता के साथ पृथु बोले—"इसलिये महाराज कि न्यायाधीश मेरे अनुकूल है, वह मेरे पक्ष में ही निर्णण देगा। वह मेरे साथ पक्षपात करेगा। लक्ष्मीजी की और मेरी बराबरी ही क्या है। वे तो जगज्जननी जगदीश्वरी ही ठहरीं। उनके समान धन सम्पत्ति ऐश्वर्यशाली संसार में कौन है। वे सबसे बड़ी हैं, मैं सबसे छोटा हूँ। वे अपने बड़प्पन के अभिमान में मुझे डाटेंगी डपटेंगी तो मैं आपकी शरण में आ जाऊँगा।"

भगवान् हँस पड़े और कुछ विनोद के स्वर में बोले—"तो तुम्हें यह कैसे निश्चय है कि मैं अपनी प्यारी घर वाली को छोड़-कर तुम्हारा पक्ष लूंगा।"

यह सुनकर महाराज पृथु दृढ़ता के स्वर में बोले—"महा-राज ! मैं क्या इसे तो सम्पूर्ण संसार जानता है कि आप अभि-मानी धनिकों की अपेक्षा निर्धन दीनों पर अधिक स्नेह करते हैं। इसीलिये संसार में आपके दीनानाथ, अशरण-शरण, दीनबन्धु, अकिञ्चन-प्रिय आदि नाम प्रसिद्ध हैं ! अकिञ्चन दीन भक्तों के सम्मुख आप मानिनी लक्ष्मीजी का आदर नहीं करते। अतः मुझे विश्वास है हम दोनों के झगड़े में आप मेरा ही पक्ष लेंगे। मुझे ही बालक समझकर जिता देंगे।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"अरे यह तुमने वरदान क्या माँगा, हमारे घर में कलह का बीज बो दिया। भैया, कोई और वस्तुएँ माँगो। पाद-सेवन तो तुम्हारा जन्मसिद्ध अधि-

कार है। उसके लिये माँगना क्या ? अपनी वस्तु माँगी थोड़े ही जाती है।"

पृथु बोले—"तब महाराज ! अब माँगने को शेष रहा ही क्या ? जब मैं आपका हूँ और सबके स्वामी आप हैं तो पिता की वस्तु तो पुत्र की होती है। कोई संसार में ऐसी वस्तु नहीं जिसके स्वामी आप न हों। तब सभी वस्तुएँ मेरी ही हैं। यह जो आप वरदान माँगों, वरदान माँगो बार-बार कह रहे हैं यह मैं आपकी जगत् को मोहित करने वाली वाणी ही मानता हूँ। इसी के प्रलोभन में फँसकर तो जीव वेद-वाणी रूपी रस्सी में बँधकर नाना कर्मों को कर रहे हैं और कर्मों के कारण ही उन्हें आवागमन जन्म-मरण के चक्र में फँसना पड़ता है। बार-बार पैदा होकर बार-बार मृत्यु के मुख में घुसना पड़ता है। कैसी आपकी जाल में फँसा देने वाली माया है, जीव आत्मस्वरूप आपको भूलकर यह मेरा घर है, यह मेरा कुटुम्ब है, यह मेरी स्त्री है, ये मेरे बच्चे हैं, ये दूसरे के हैं। मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं, इसी में मेरी तू तेरी में फँसा हुआ है। अब महाराज ! मैं क्या वरदान मागूँ। अबोध पुत्र पिता से कुछ भी नहीं माँगता तो भी यह ला, वह ला, यह दे, वह दे, सदा इसी में लगा रहता है तथा उसके हित की ही चिन्ता करता रहता है। इसीलिये मेरा जिसमें कल्याण हो, जिस वर से मेरा भला हो, उसे आप पिता के नाते स्वयं ही सोच समझकर दे दें।"

यह सुनते ही भगवान् खिल-खिलाकर हँस पड़े और बोले—"अरे भैया ! हम तो समझते थे कि भक्त बावरे होते हैं। किन्तु तुमने तो न माँगने पर भी सब कुछ माँग लिया। अच्छी बात है। तुम्हारी मुझमें सदा अनपायिनी अव्यभिचारिणी भक्ति बनी रहेगी। यह तो बड़े सौभाग्य की बात है कि तुम्हारी मुझमें निष्काम दृढ़ भक्ति है। कुछ भी न चाहने वाले भक्त विरले होते

हैं, वे ही मेरी दुस्तर माया को जिसका पार करना ब्रह्मादि देवताओं को भी दुर्लभ है उसे बात-की-बात में पार कर जाते हैं। मैंने जो तुम्हें प्रजा-पालन रूप धर्म सिखाया है, निष्काम भाव से स्वधर्म पालन रूप कर्तव्य बताया है, उसे मेरी सेवा समझकर करते रहना। तुम्हारा सर्वत्र कल्याण होगा। तुम सर्वदा सुखी होगे। जो मेरी आज्ञाओं का पालन करता है उसके सम्मुख सभी सिद्धियाँ हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। उसका सर्वत्र मङ्गल होता है। वह परम पद को सुगमता के साथ प्राप्त कर लेता है।"

महामुनि मैत्रेय कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार महाराज पृथु ने एक कम १०० यज्ञ करके यज्ञ में स्नान किया। यज्ञ में आये देवता, ऋषि, पितृगण, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, नाग, किन्नर, अप्सरा, मनुष्य, पशु, पक्षी, सभी का यथोचित यथायोग्य स्वागत सत्कार किया। ये सब लोग महाराज से पूजित तथा सत्कृत होकर अपने-अपने धामों को चले गये। भगवान् भी देखते-ही-देखते वहीं-के-वहीं अन्तर्धान हो गये। यज्ञ के उपाध्यायों सहित महाराज पृथु स्वप्न के अनन्तर खुले नेत्रों के समान भौंचक्के से हुए देखते ही रह गये। उन्होंने उस दिशा को प्रणाम किया जिधर भगवान् अन्तर्धान हुए थे। फिर सब यज्ञीय कार्यों से निवृत्त होकर उन्होंने अपने नगर को प्रस्थान करने का विचार किया।"

छप्पय

जिन विषयनिकूँ छोड़ि भूमिपति वनकूँ भागे।
तिनकूँ तुमरे दास भला च्यों तुमते माँगे॥
जगदीश्वर तुम जनक तनय हम नाथ तिहारे।
तो फिरि जगके भोग आपुई भये हमारे॥
हौं वर माँगूं जिही प्रभु! तव पद पद्मनि प्रीति हो।
सत्सङ्गति हरि कथा रुचि, जग भोगनितें भीति हो॥

यज्ञों के अन्त में महाराज पृथु का पुर प्रवेश

[२७४]

शङ्खदुन्दुभिघोषेण ब्रह्मघोषेण चर्त्विजाम् ।
विवेश भवनं वीरः स्तूयमानो गतस्मयः ॥
पूजितः पूजयामास तत्र तत्र महायशाः ।
पौराञ्जानपदांस्तांस्तान्प्रीतः प्रियवरप्रदः ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० २१ अ० ५, ६ श्लोक)

छप्पय

पृथुकूँ सब वर दये भये अन्तर्हित श्रीपति ।
कर सबको सम्मान चले पुरकूँ पृथिवीपति ॥
सुनत आगमन प्रजा गई लेवेकूँ आगे ।
वीणा, वेणु, मृदङ्ग वाद्य बहु बाजन लागे ॥
ध्वजा पताकातें सजे, नगर माहिँ आये नृपति ।
निज पति लखि चिरकालमहँ, भये मुदित नर नारि अति ॥

वियोग जीवन में एक नूतनता का प्रवेश करता है। नित्य

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! यज्ञों से निवृत्त होकर अभिमानशून्य शूरवीरों में श्रेष्ठ महाराज पृथु ने ब्राह्मणों के वेद-ध्वनि शङ्ख दुन्दुभि के घोष तथा वन्दियों की स्तुतियों को सुनते-सुनते अपने राजभवन में प्रवेश किया। मार्ग में सर्वत्र पुरवासियों और देशवासियों ने उनका पूजन सत्कार किया। महाराज ने भी प्रसन्नता पूर्वक उन्हें इच्छित वर दिये।"

मिलने से स्नेह बँटता रहता है, किन्तु वियोग में वह जम ही जाता है और फिर संयोग की सम्भावना होते ही फिर उमड़ पड़ता है। तभी तो जिसकी जितनी ही अधिक उत्कण्ठा से प्रतीक्षा की जाती है, उसके मिलने में उतना ही अधिक आनन्द आता है। हमारा हृदय अधीर हो उठता है, इसीलिये हृदय के प्रेम को व्यक्त करने के लिये अपने मन से वाणी से तथा कर्मों से उसे स्वागत सत्कार करके व्यक्त करते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महाराज पृथु यज्ञ के समस्त कार्यों से निवृत्त हो गये। अब उन्होंने अपने पुर में प्रवेश करने का विचार किया। महाराज ने एक ही स्थान पर रहकर एक के पश्चात् एक इस प्रकार ९९ यज्ञ किये थे। यज्ञ में दीक्षा लेने के कारण नियमित भू प्रदेश को परित्याग करके अन्यत्र नियमानुसार जा नहीं सकते थे। अतः वे जब से नगर से आये थे तब से अब तक एक दिन भी अपनी राजधानी में नहीं गये थे। अब यह प्रथम ही अवसर था। इस सम्वाद को सुनते ही नगर-निवासियों और देशवासियों में आनन्द छा गया। महाराज जहाँ-जहाँ होकर जायँगे, वहाँ-वहाँ स्वागत-सत्कार की तैयारियाँ होने लगीं। आस-पास की प्रजा एकत्र होकर मार्ग के दोनों ओर खड़ी हो गयीं। झाड़-बुहार कर पथ परिष्कृत किया गया, उसमें सुगन्धित जल का छिड़काव किया गया। स्थान-स्थान पर फाटक बनाये गये, जिनमें मोटे-मोटे अक्षरों में भगवान् वासुदेव के सुयश सम्बन्धी वाक्य लिखे थे। महाराज की जय और आशीर्वाद सूचक शब्द थे। उसी सजे-सजाये पथ से महाराज की सवारी नगर की ओर चली। मार्ग में समस्त प्रजा के चारों वर्ण के नर-नारी अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार यथोचित महाराज का स्वागत सम्मान करते। उन्हें भाँति-भाँति के उपायन भेंट करते। महाराज भी उन्हें स्वीकार करते हुए सब यथोचित सम्मान अभिवादन आदि करते सबसे

कुशल पूछते। इस प्रकार सबसे सत्कृत होते हुए महाराज अपनी राजधानी के निकट पहुँचे। पुरवासियों ने आज राजधानी को भली-भाँति सजाया था मोतियों की लड़ियों से, सुरभियुक्त सुन्दर सुमनों के गजराओं से, रंग-विरंगे रेशमी सूती आदि वस्त्रों से सुवर्ण के सुहावने तोरणों से सड़क सजाई गयी थी। विस्तृत राजपथ, साधारणपथ, गलियाँ, वीथियाँ सभी सुन्दर सुगन्धित सलिल से स्वच्छ की गयी थीं। उनमें स्थान-स्थान पर अगरु जलाया गया था। स्थान-स्थान पर स्वागत सम्बन्धी जल कलश, पुष्प, अक्षत, फल, जवांकुर, दीपक आदि मङ्गल द्रव्य रखे थे। कदलीस्तम्भ, आम्रपल्लव तथा और भी फल वाले शुभ वृक्ष इधर-उधर लगाये गये थे। सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हुई कुमारी कन्यायें खील बतासे, पूष्प-मालायें, दूर्वा तथा अकुर आदि लिये खड़ी थीं। वेदज्ञ-ब्राह्मण ब्रह्मघोष कर रहे थे, वन्दीजन वंश की विरुदावली गा रहे थे, विविध भाँति के वीणा वेणु आदि वाद्य बज रहे थे। इस प्रकार बड़े ठाट-बाट और स्वागत-सत्कार के सहित महाराज ने अपने सजे-सजाये मणिमय दिव्य राजभवन में प्रवेश किया। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि भवन की प्रत्येक दीवाल सजीव होकर अपने स्वामी का सत्कार कर रही है निर्जीव भवन से दिखाई देने लगे। अतुलनीय सम्पत्तिशाली वह राजभवन और भी श्रीयुक्त हो हो गया, सर्वत्र उसमें एक प्रकार की अपूर्व आभा-सी छा गई, एक विचित्र कांति-सी छिटकने लगी। अन्तःपुर की दास-दासियों और महारानियों ने महाराज के प्रति आदर प्रदर्शित किया, उनके चरणों में श्रद्धाञ्जलि समर्पित की।

महामुनि मैत्रेय कहते हैं—"विदुरजी ! इस प्रकार आदि राजा महाराज पृथु बड़े ही सुख से जिस प्रकार इन्द्र देवताओं तथा ऋषियों से घिरे हुए अमरावती में निवास करते हैं, उसी प्रकार मन्त्री, अमात्य, पुरोहित तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों से घिरे हुए बड़े

आनन्द के साथ अपनी राजधानी में आनन्द बिहार करते हुए सुख से रहने लगे ।

इस बात को सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए विदुरजी आगे का प्रसङ्ग चालू रखने के लिये कहने लगे—"भगवन् ! आपने आदि राजा भगवान् पृथु का बड़ा ही सुन्दर चरित्र सुनाया। उनके पराक्रम के सम्बन्ध में कुछ कहना मानों सूर्य को दीपक दिखाना है । जिन्होंने अपने बाहुबल से इस मेदिनी को पृथ्वी बना लिया, सभी को उसके अनुरूप दुहकर अन्न प्रदान किया, भविष्य के राजाओं के लिये शासन का पथ परिष्कृत किया, राज-काज की एक मनोहर मर्यादा स्थापित की । उनके यदि आप उचित समझें तो मुझे और भी पावन चरित सुनाइये, उनके सम्बन्ध में और भी कुछ बताइये, उनके गुणों का और भी माधुर्य्य चखाइये, पृथु कीर्ति सुनाकर इन कर्ण कुहरों को सार्थक बनाइये । भगवन् ! पृथु चरित्र सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ।"

इस पर भगवान् मैत्रेय बोले—"विदुरजी ! क्यों न हो, आप तो सज्जन प्राणी हो । सज्जन पुरुषों को भागवती कथाओं के श्रवण में उसी प्रकार रस आता है, जिस प्रकार बच्चों को मीठे आम चूसने में रस आता है । महाराज पृथु के चरित का अन्त नहीं । वे स्वयं अनन्तावतार हैं, अतः उनके चरित्र भी अनन्त हैं ।

महाराज पृथु की राजधानी गङ्गा-यमुना के मध्य में ब्रह्मर्षियों से सेवित इस ब्रह्मावर्त देश में थी । वैसे तो वे समस्त सप्तद्वीपवती पृथ्वी के एकमात्र शासक थे । अच्युत गोत्रीय वैष्णवों और ब्राह्मणों को छोड़कर सभी पर उनका राज शासन चलता था । सभी के वे स्वामी थे । उनका शरीर सुन्दर सुडौल और शोभायुक्त था । वे देखने में बड़े ही मनोहर लगते थे । शरीर उनका ऊँचा था । बाहुएँ मोटी गोल और जानु पर्यन्त लटकने वाली थीं । गौरवर्ण, विशाल विकसित नेत्र, शुक के समान सुघड़ नासिका, उन्नत, भरे

हुए सिंह के समान कन्धे, मन्मथ के समान सुन्दर सलौना शोभा-युक्त मुखारविन्द, दाड़िम के दानों के सदृश स्वच्छ, मोतियों के समान चमकीली उनकी दन्तावली थी। ग्रीवा शङ्ख के समान सुन्दर और उतार चढ़ाव की थी। केश बहुत लम्बे तो नहीं थे, किन्तु काले-काले घुंघराले, अत्यन्त स्निग्ध, कोमल और चमकीले थे। छाती विशाल थी, नाभि गम्भीर गङ्गाजी के वर्षा कालीन आवर्तों के समान थी, उदर त्रिवली से युक्त, कटि प्रदेश स्थूल, मांसल और भारी था। जघन सुडौल, सुवर्ण के समान देदीप्यमान ओर पैरों के पंजे उन्नत तथा चढ़ाव-उतार के थे। उनके चरण-कमलों की उँगलियों के नखों की द्युति से पृथ्वी चमकने लगती थी। ऐसे सौन्दर्य में, सद्गुणों में, धर्म-कर्म में अद्वितीय राजा को पाकर प्रजा अत्यन्त ही प्रसन्न रहती, वह अपने भाग्य की सराहना करती।

महाराज वेन के समय में सर्वत्र नास्तिकता का बोल-बाला था। जो नास्तिकों की तरह शुष्क तर्क करें, खण्डन-मण्डन करके नास्तिकता का प्रचार करें ऐसे ही नास्तिकतार्किकों को तब पण्डित माना जाता था, उन्हीं का राज सभा में सम्मान होता था। विदुरजी ! संसार में कुछ अक्षर ज्ञान वाले वाक्पटु ऐसे गङ्गा-यमुनी लोग होते हैं कि जिनका कोई धर्म-कर्म निश्चित सिद्धान्त नहीं होता। गङ्गा गये तो गङ्गादास, यमुना गये तो यमुनादास। येन-केन प्रकारेण अपना स्वार्थ साधना चाहिये। जिधर को लहर देखी उधर ही बहने लगे। जिधर का पक्ष भारी देखा उधर ही गुन गाने लगे। ऐसे नास्तिकों का अभी तक मूलोच्छेदन नहीं हुआ था। प्रजा में अभी तक नास्तिकता के भाव कुछ-कुछ भरे ही थे। इसीलिये महाराज ने एक बड़ा भारी सत्र कराया जिसमें यज्ञ-याग कथा कीर्तन हों। देश-देश के लोग आवें, सब अपने-अपने भावों को व्यक्त करें। देश-देशान्तरों के सभी वर्णों के लोग बुलाये

गये। ऋषि मुनियों को भी आमन्त्रित किया गया। इस प्रकार एक बड़ा भारी समाज एकत्रित हुआ। महाराज ने उस महासत्र की दीक्षा स्वयं ली। यज्ञ हुए, ब्राह्मणों के उपदेश हुए। कथावार्ता आदि सभी प्रकार के धार्मिक समारोह हुए।

यज्ञ के अन्त में महाराज पृथु ने स्वयं उठकर एक बड़ा प्रभावशाली भाषण दिया। जिस समय वे भाषण देने के निमित्त मञ्च के समीप आकर खड़े हुए उस समय की उनकी शोभा दर्शनीय थी। वे सीधे खड़े थे, मुख पर मन्द-मन्द मुस्कान छिटक रही थी, उनके नेत्रों के तारे बड़े शान्त गम्भीर और चमकीले थे, सबकी ओर स्नेह भरी दृष्टि से देख रहे थे। वे यज्ञ की दीक्षा में थे, इसलिये एक अधो वस्त्र एक उत्तरीय वस्त्र ये दो अति सूक्ष्म पीले रेशमी वस्त्र पहिने थे। दीक्षित होने के कारण आभूषणों को उतार दिया था। एक कृष्ण मृगचर्म ओढ़े थे, हाथ में कुशों का बना हुआ मूँठा (ब्रह्म दण्ड) लिये हुए थे। उस समय उनमें क्षात्र और ब्रह्म दोनों ही तेज स्पष्ट झलक रहे थे। जिस समय वे भाषण करने खड़े हुए, चारों ओर से पुष्पों की वृष्टि होने लगी। समुपस्थित सभी जनता शान्त हो गयी। सर्वत्र निस्तब्धता छा गयी। तब उन्होंने अपना भाषण आरम्भ किया। उनका भाषण अत्यन्त मनोहर था, विषय वर्णन की शैली चित्ताकर्षक थी, शब्दावली चित्र-विचित्र पदों से संयुक्त थी। वाणी अत्यन्त गम्भीर, सुन्दर, सारयुक्त, अति मधुर और ओजस्विनी थी। उनका भाषण क्या था मानों अपने सम्पूर्ण अनुभव को मथकर उसका मक्खन निकालकर जनता के सम्मुख रख दिया हो।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप जिस बात का वर्णन करते हैं, ऐसा करते हैं कि श्रोता की उत्सुकता अत्यधिक बढ़ा देते हैं। महाराज पृथु के भाषण की इतनी अधिक प्रशंसा तो कर दी, किन्तु अभी तक भाषण का एक शब्द भी नहीं सुनाया। कुछ सुनाइये

भी तो क्या भाषण किया, कौन-सी बात कही। महाराज पृथु का भाषण श्रवण करने की हमारी बड़ी उत्कण्ठा हो रही है।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! वह भाषण तो है बड़ा। उसे यहाँ कथा-प्रसङ्ग में सुनाऊँगा तो कथा-प्रसङ्ग रुक जायगा।"

इस पर शौनकजी बोले—"अजी, सूतजी! आप प्रत्येक प्रसङ्ग पर ऐसी ही बात कह देते हैं। ऐसा क्या प्रसङ्ग रुकेगा। बहुत विस्तार न कीजिये, संक्षेप में ही सुना दीजिये इस भाषण को सुनने की तो सूतजी! हमारी बड़ी इच्छा है। इसके लिये आप टाल-मटोल न करें। इसे आप अवश्य सुनावें।"

सूतजी सरलता के साथ बोले—"महाराज! जैसी आज्ञा। मैं तो सुनाने को तैयार ही हूँ, किन्तु कैसा भी संक्षेप करूँ, विषय कुछ बढ़ तो जायगा ही। फिर भी मैं सार रूप से ही सुनाऊँगा। आप सब सावधानी के साथ समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।"

अध्याय

प्रविशे पुर पृथु करें, प्रजा सबको यों पालन।
ज्यों माता पितु करें, नेहतें सुतको लालन॥
महासत्र इक रच्यो धर्मकी वृद्धि करनकूँ।
फैले नास्तिकभाव घरातें तिन्हें हरनकूँ॥
देश देशतें सभ्यगन, आयो जुरचो समाज वर।
तिनके सम्मुख कहन कछु, उठे भूप ज्यों दिवाकर॥

—०—

महाराज पृथु का महासत्र में अभिभाषण

[२७५]

सभ्याः शृणुत भद्रं वः साधवो य इहागताः ।
सत्सु जिज्ञासुभिर्धर्ममावेद्यं स्वमनीषितम् ।।*

(श्री० भा० ४ स्क० २१ अ० २१ श्लोक)

छप्पय

अति सुन्दर अति मधुर भ्रान्तितें रहित बचन वर ।
बोले सबहिँ सुनाइ धर्म सम्मत अति हितकर ।।
सुनो शास्त्रको सार सन्त-मुख सुनी सुनाऊँ ।
सेवा सौंपी सबनि पुरुष कर्तव्य बताऊँ ।।
वेद विहित सब यज्ञ तप, दान धर्म मिलि करहु अब ।
पितर, अतिथि, गुरुदेव, द्विज, पूजा सबकी करहु सब ।।

एक कहावत है "गाना रोना कौन नहीं जानता ।" यह ठीक है, सभी कुछ-न-कुछ गुनगुनाते हुए गा लेते हैं, सभी आँसू बहाकर रो लेते हैं । किन्तु जैसे चाहिये वैसे कलापूर्ण गाने रोने

---

* महामुनि मैत्रेय कहते हैं—"विदुरजी ! जब महाराज पृथु अपने महासत्र में व्याख्यान देने खड़े हुए तो सबको सम्बोधन करके उन्होंने कहा—"हे सभ्यगण ! हे दूर-दूर से पधारे हुए महात्माओ ! आप सबका कल्याण हो । आप मेरी बात को श्रवण करें, क्योंकि धर्म के जिज्ञासुओं को साधु पुरुषों की सन्निधि में अपने मनोगत भावों को निवेदन कर देना चाहिये ।"

वाले पुरुष कम होते हैं। इसी प्रकार बोलकर या संकेत आदि से अपने भावों को दूसरों पर सभी व्यक्त करते हैं, किन्तु सभा में भाषण देना, समाज में सबके सम्मुख अपने भावों को कुशलता-पूर्वक समझाना, सबके हृदयों को अपने भाषण से प्रभावान्वित कर देना, यह किसी विरले का ही कार्य है। वक्तृत्व शक्ति भी एक कला है। वैसे तो यह शक्ति जन्म से ही किसी-किसी में होती है, किन्तु अभ्यास से यह बढ़ाई जा सकती है।

व्याख्यान देने वाले को सबसे पहिले तो दृढ़ता की आवश्यकता है। जो दृढ़ नहीं, बात-बात पर विचलित हो जाता है वह सम्माननीय वक्ता नहीं समझा जाता। जिस विषय पर बोलना हो, उसका पहिले विचार कर लें। पहिले उपस्थित सज्जनों को सम्बोधन करने के अनन्तर अपनी हीनता दिखाते हुए विषय की गम्भीरता का दिग्दर्शन करावे। फिर संक्षेप में अपने विषय को जनता के सम्मुख उपस्थित करे। दूसरे लोगों का इस विषय में क्या मत है, उसमें पहिले विपक्षियों की युक्तियों को बतावे कि कुछ लोग इस विषय में ये-ये दोष बताते हैं, इस पर पहिले पूर्व पक्ष की स्थापना करे। जब पूर्व पक्ष को दृढ़ता के साथ बता दे, तब क्रम-क्रम से उन विपक्षियों के मत में दोष दिखावे। बड़े मधुर और सौम्य शब्दों में उनकी युक्तियों का खण्डन करे, अपने पक्ष की पुष्टि में शास्त्रों का, आप्त पुरुषों का प्रमाण देता जाय। बीच-बीच में सुन्दर दृष्टान्त उपाख्यान भी प्रसङ्गानुसार कह दे। बहुत जोर से भी न बोले, बहुत धीरे-धीरे न बोले, बोलते समय इन बातों पर विशेष ध्यान रक्खे।

१—अपने विषय को छोड़कर विषयान्तर न करे।

२—जनता भाषण से ऊबती दिखाई दे तो कोई चुटकुला मनोरञ्जक उपाख्यान कह दे।

३—विषय को बहुत बढ़ावे नहीं जिससे लोग ऊबने न लगें।

बहुत संक्षेप भी न करे कि विषय भली-भाँति लोगों की समझ में ही न आवे।

४—भाषण करते समय मुँह को न बनावे, आँखों को मिच-मिचाना, भौंहों को चढ़ाना, गालों को पिचका देना, सैन चलाना, मुँह मटकाना ये भाषण के दोष हैं। इनसे जनता पर बुरा असर पड़ता है।

५—भाषण में किसी पर व्यक्तिगत नाम लेकर आक्षेप न करे। यदि कहना आवश्यक ही हो तो सौम्यता के साथ मधुर शब्दों में शिष्टाचार की रक्षा करते हुए कहे।

६—व्याख्यान देते समय भय न करे, निर्भय होकर भाषण दे। यही अनुभव करे ये सब बच्चे बैठे हैं, मैं इन्हें समझा रहा हूँ। किन्तु इस भाव की गन्ध भाषण में व्यक्त न होने पावे।

७—व्याख्यान देते समय किसी एक व्यक्ति को अपना लक्ष्य बना ले जो अपने भाषण को अत्यन्त ध्यान से सुन रहा हो। इधर-उधर दृष्टि घुमाकर बार-बार उसे ही देखकर उसी की चेष्टाओं का अध्ययन करते हुए उसे ही समझावे।

८—जैसे रस का वर्णन करना हो वैसे ही भाव, वैसे ही संकेत प्रदर्शित करे।

९—कोई हँसी की बात हो पहिले से स्वयं ही न हँसने लगे, जब सब जनता हँस पड़े तो पीछे से स्वयं भी मुस्करा दे।

१०—करुणा के प्रसङ्ग पर हृदय में स्वयं करुणा को उत्पन्न करे, जिससे नेत्रादिकों में स्वयं करुणा के भाव स्पष्ट दिखाई देने लगें।

इन बातों को ध्यान में रखकर जो भाषण करता है वह सुवक्ता कहाता है, जनता में उसका आदर होता है, और उसके द्वारा अनेकों जीवों का उपकार होता है, किन्तु बनावट से दूर रहे, जो

कहे स्वयं भी भरसक उसके पालन की चेष्टा करे। बनावटी बातों का स्थाई प्रभाव नहीं होता।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! महाराज पृथु भाषण करने वालों में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे। एक तो वे चक्रवर्ती राजा थे, धर्मात्मा थे, सुन्दर स्वरूपवान् थे, प्रजा के हितैषी थे, भगवान् के अंशावतार थे, अतः उनके भाषण का जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ता था।"

इस पर विदुरजी ने कहा—"भगवन् ! उस महासत्र में जो महाराज पृथु ने भाषण दिया उसे आप कृपा करके मुझे सुनाइये।"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! सुनिये। मैं महाराज पृथु के भाषण का सारांश सुनाता हूँ। महाराज पृथु खड़े हुए। उन्होंने ऋषि-मुनियों का अभिवादन किया और फिर शनैः-शनैः अपना भाषण आरम्भ किया। वे बोले—

"समुपस्थित साधु-सन्तों और सभ्य महानुभावो ! आप सब महानुभाव इतना कष्ट करके यहाँ पधारे हैं, यह आपने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की। मुझे अपने दर्शनों से कृतार्थ किया। भगवान् आपका भला करें। मङ्गलमय श्रीहरि आप सब पर कृपा की दृष्टि करें। सभ्यगण ! मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ, उसे आप ध्यानपूर्वक श्रवण करें। मैं आप सबको शिक्षा देना नहीं चाहता। शिक्षा देने की मुझमें योग्यता भी नहीं, मेरा अधिकार भी नहीं। शिक्षा तो आपको ये ब्रह्मज्ञानी ऋषि-मुनि सन्त-महात्मा ही दे सकते हैं। मैं तो अपने मनोगत भावों को आपके सम्मुख निवेदन भर कर देना चाहता हूँ, क्योंकि साधु पुरुषों की सन्निधि में जिज्ञासु पुरुषों के सम्मुख अपने मनोगत भावों को व्यक्त कर देने से श्रोता वक्ता दोनों का ही कल्याण होता है। यदि वक्ता के कथन में कुछ त्रुटि देखेंगे तो साधु पुरुष उसका संशोधन कर देंगे उसे सुधार देंगे। यदि वह बात वक्ताओं के हित की हुई तो पुष्टि कर देंगे।

मैं अपने में इतनी योग्यता नहीं देखता कि स्वतः इतनी बड़ी वसुन्धरा का धर्मपूर्वक पालन कर सकूँ। किन्तु स्नेहवश या मेरे पूर्वजों के पुण्यवश, ऋषि-मुनियों ने मिलकर मुझे राजा बना दिया है। जब उन त्रिकालज्ञ ऋषियों ने मुझे इस अधिकार पूर्ण पद पर प्रतिष्ठित कर ही दिया है तो मेरा उत्तरदायित्व बहुत हो जाता है। इस पद पर बैठने से मेरे प्रधान चार कर्तव्य हो जाते हैं। सबसे पहिला कर्तव्य तो मेरा यह हो जाता है कि मैं उन दुष्टों को दण्ड दूँ जो धर्म की मर्यादा का परित्याग करके अधर्म का आचरण करते हैं। जो भी नियमों के पालन में शिथिलता करे, वह फिर चाहे अपना सगा पुत्र ही क्यों न हो, सबको समान रूप से दण्ड देना। यह राजा का सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है।

दूसरा कर्तव्य राजा का यह है कि प्रजा की सभी ईति-भीति से रक्षा करना। अपनी प्रजा के मार्ग में जो भी कष्ट उपस्थित हो, उसे हटाना। कैसा भी दुःख प्रजा में हो उसे दूर करना।

तीसरा कर्तव्य राजा का यह है कि सबकी अजीविका का प्रबन्ध करना। यदि किसी राजा के राज्य में एक पुरुष भी भूखा अधपेट सो जाता है तो वह राजा का पाप है, शासन का दोष है। राजा को चाहिये कि सबके भोजन का प्रबन्ध करे, सबकी आजीविका की चिन्ता रखे।

चौथा कर्तव्य यह है कि सबकी योग्यता देखकर सबको पृथक्-पृथक् कार्यों में नियुक्त करके धर्म की मर्यादा को स्थिर बनाये रखे। यदि मैं उन चारों कर्तव्यों को धर्म बुद्धि से, प्रभु सेवा समझकर पालन कर सका तो समझो मैंने प्रभु की प्रसन्नता प्राप्त कर ली। जिस पर प्रभु प्रसन्न हो गये, उसके लिये और कर्तव्य शेष ही क्या रहा। उसे उन पुण्यप्रद अक्षय लोकों की प्राप्ति होती है, जिनका पुण्य कल्पान्त में भी नष्ट नहीं हो सकता। यदि

मैं धर्मपूर्वक परलोक का ध्यान रखते हुए आप सबका पालन करूँगा तो महर्षियों के कथित वे सब लोक मुझे स्वतः ही प्राप्त हो जायँगे।"

राजा दो प्रकार के होते हैं, एक तो धर्मात्मा दूसरे अधर्मात्मा। धर्मात्माओं की गति तो मैंने आपसे वर्णन कर ही दी। अब जो अधर्मात्मा हैं, प्रजा से राजकर के रूप में षष्ठांश तो ग्रहण करते हैं, किन्तु प्रजा का पालन धर्मपूर्वक नहीं करते, उनके रक्षाकार्यों में प्रमाद करते हैं, ऐसे राजा की प्रजा पापाचरण में प्रवृत्त हो जाती है, सर्वत्र पाप होने लगता है, यह पाप बुद्धि राजा की शिथिलता के ही कारण उसके विषयासक्त होने के कारण ही होती है, अतः उन सबके पाप का भागी राजा ही होता है, उसका परलोक नष्ट हो जाता है और इहलोक के ऐश्वर्य से भी वह भ्रष्ट हो जाता है।

महानुभावो! यह मैंने आपको धर्माचरण और अधर्माचरण करने वाले राजाओं की गति बताई। अब आप सब लोग मेरे ऊपर कृपा करें, मुझे पाप से बचावें। आप सब धर्माचरण करें, श्रद्धा भक्ति से प्रभु की आराधना करें, नास्तिक भावों को त्याग दें, शुष्क तर्कों को स्थान न दें। मैं जैसा भी कुछ हूँ आपका ही चुना हुआ राजा हूँ, आपका ही बनाया हुआ शासक और स्वामी हूँ, आप लोग मेरे दोषों को ओर न देखते हुए मेरा परलोक सुधारने के निमित्त सदा-सर्वदा भगवत्चिन्तन करते रहे। आप कह सकते हैं कि हम यदि भगवत्चिन्तन करेंगे तो अपने लिये करेंगे, इसमें आपके ऊपर क्या कृपा हुई। सो महानुभावो! इसमें आपका तो कल्याण होगा ही मेरा भी हित है। यह तो मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि प्रजा के पुण्य-पाप में राजा का भी भाग होता है। आप धर्माचरण करेंगे तो उसमें से मुझे स्वतः ही मिल जायगा। आपकी कृपा से मेरा भी भला हो जायगा।

अब एक बात मैं आपको और बताना चाहता हूँ। कुछ लोग कहते हैं परलोक कुछ है ही नहीं। देह आत्मा है। देह जहाँ नष्ट हुई सब कुछ नष्ट हो गया। फिर उसका आवागमन नहीं होता। अतः जब तक जीवे खूब ऋण ले और घी पीवे। कौन जाने कब सांस निकल गई। अतः भूख-प्यास सहकर इस काया को क्लेश न पहुँचावे। मरकर कोई कहने तो आता नहीं कि हमने क्या सुख या दुःख पाया। कोई होता तो आता। करने वाला तो शरीर है, शरीर अग्नि में जला दिया गया, सड़ा दिया गया अथवा नदी आदि में फेंक दिया गया। अब आवे कौन? कुछ स्वार्थियों ने अपना स्वार्थ सिद्ध करने को, मूर्ख लोगों को ठगने को, अपनी तोंदों को बढ़ाने को, नित्य नूतन माल उड़ाने को कुछ कल्पित शास्त्रों की रचना कर ली है, यों श्राद्ध करो, ऐसे पिण्ड करो, रोज तर्पण करो। सब झूठी बातें हैं, परलोक-फरलोक कुछ नहीं। जो है सो यही लोक है।" ऐसी नास्तिकतापूर्ण अनेक बातें सुन्दर-सुन्दर वाक्यों को बनाने वाले वाचाल बका करते हैं और भोले-भाले लोगों को धर्म-भ्रष्ट करते हैं। परलोक है, अवश्य है। इसे मैं ही नहीं कहता आपके सम्मुख जो ये इतने बड़े-बड़े ऋषि, महर्षि, तेजस्वी, तपस्वी, पूजनीय मुनिगण विराजमान हैं, ये सभी मेरी बात का अनुमोदन करेंगे। आप इनके द्वारा अपनी शङ्काओं को निवारण करें।

कुछ लोग कहते हैं, गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं, कर्म ही सुख-दुःख देते हैं, जो जैसा कर्म करेगा वह वैसा फल पावेगा। यह तो ठीक ही है, कर्मों का फल तो होता ही है, किन्तु जड़ कर्म स्वयं फल को देने में समर्थ नहीं। एक कोई यज्ञपति है, जो कर्मों के शुभाशुभ का फल देते हैं। ऐसा कुछ महर्षियों का मत है। ऐसा न होता तो फिर इस लोक में परलोक में जो तेजोमय स्थान दिखाई देते हैं, सब व्यर्थ हो जाते। शरीर ही को आत्मा मान ले तब तो

परलोक का अस्तित्व ही मिट जायगा, किन्तु परलोक को तो त्रिकालज्ञ मुनियों ने स्वयं साक्षात्कार किया है। आप देवता पितर और ऋषिगण मेरी इन बातों का अनुमोदन करें। जनता को शिक्षा दें, उसे कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग में लगावें। ऐसा करने से परलोक में कर्ता को जो फल होता है, वही अनुमोदनकर्ता-शिक्षक और प्रेरक को भी होता है।

अब आप लोग कह सकते हैं कि ये सब कार्य भगवत् प्रेरणा से ही होते, इसमें क्या प्रमाण? भगवान् नामक कोई है इसी में क्या प्रमाण? इस विषय में ईश्वर को न मानने वालों का कहना है कि हम सत्य को ही प्रमाण मानते है। जो हमें दीखे नहीं, देख न सके उसे प्रमाण नहीं मानते हैं। आप सोचें क्या यह बात ठीक है। प्रत्यक्ष के मानी क्या? यही न कि जिन्हें आँखें साक्षात् देखें, किसी अनुमान-उपमान अथवा अन्य उपकरण साधन की अपेक्षा न हो तो आप सोचें—"क्या आँखें प्रत्यक्ष देख सकती हैं। जब तक चक्षु गोलक न हों तब तक आँखों में देखने की शक्ति नहीं। यह जो दो पलकों के बीच में काले तिल वाली सफेद शीशा के युक्त तिरछी-तिरछी भौहों वाली हमें दिखाई देती हैं, क्या ये आँखें हैं? नहीं ये आँखें नहीं हैं, आँखों के गोलकों के ज्यों-के-त्यों बने रहने पर भी यदि चक्षु-शक्ति नष्ट हो जाय, इनमें प्रकाश प्रदान न करे, इनमें बैठकर न देखे तब तक हम देख ही नहीं सकते। अतः चक्षु भी किसी के द्वारा ही देखती हैं। तब फिर प्रत्यक्ष कहाँ रहा। प्रत्यक्ष सत्य ही हो यह भी बात नहीं। आकाश प्रत्यक्ष तो नीला दिखाई देता है, क्या वास्तव में वह नीला है? इन्द्र धनुष प्रत्यक्ष एक रङ्गों वाला धनुष-सा दीखता है, क्या वह ऐसा कोई धनुष आकाश में रखा है? गन्धर्व नगर प्रत्यक्ष दिखाई देता है क्या ऐसा नगर कोई आकाश में बसा है? इसलिये प्रत्यक्षादि की तब तक कोई सत्ता नहीं

जब तक उसका अनुमोदन आदि पुरुष न कर दें। मेरे हाथ में यह क्या है ? आप कहेंगे कुशाओं का मूँठा-ब्रह्मदण्ड है ? तो मैं पूछूंगा, इसमें क्या प्रमाण कि ये कुशा ही हैं ? आप कहेंगे हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं तो मैं पूछूंगा इन पर कहाँ लिखा है ये कुशा हैं। लिखा भी होता तो यह शब्द "कु" है यह "शा" है इसमें क्या प्रमाण ? मैं जिसे ओढ़े हूँ, इसका नाम कृष्ण मृगचर्म है इसमें क्या प्रमाण ? आप मनुष्य हैं, ये पशु हैं, ये पक्षी हैं, ये वृक्ष हैं, इसमें क्या प्रमाण ? प्रमाण से ही वस्तु की सिद्धि होती है। इस प्रमाण के प्रमाणत्व में क्या प्रमाण ? ये ब्राह्मण हैं, ये ऋषि हैं, मैं राजा हूँ, इसमें क्या प्रमाण ? महानुभावो ! आप मेरी बात पर विश्वास करें। ये सब धूर्तों की श्रुति मधुर वेदविरुद्ध व्यर्थ की बहकाने वाली बातें हैं। सबसे अधिक प्रमाण है शिष्ट लोगों का वचन। सबने इस अक्षर का नाम "अ" रख दिया, अब हमें मान लेना चाहिये यह "अ" ही है। ये मनुष्य हैं, ये पशु हैं, ये पक्षी हैं, ये सरीसृप हैं, ये ब्राह्मण हैं, ये स्त्रियाँ हैं, ये पुरुष हैं, ये इसके लड़के हैं, ये इसके-माता पिता हैं, ये गेहूँ हैं, ये जौ हैं। इन सबमें बड़े लोगों के वचन ही प्रमाण हैं। इसी प्रकार ईश्वर है, इसमें त्रिकालज्ञ ऋषि तथा हमारे धर्मात्मा पूर्वज ही प्रमाण हैं। यदि ईश्वर परलोक आदि न होते तो हमारे प्रथम पूर्वज भगवान् स्वायम्भुवमनु भगवान् की आराधना क्यों करते ? कैसे वे अपने पौत्र ध्रुव को परलोक से पधारकर शिक्षा देते। इतने बड़े यशस्वी हमारे पूर्वज उत्तानपाद इतने समृद्धिशाली राज्य को तृण के समान त्यागकर वन में क्यों जाते, क्यों भगवत् आराधना में निमग्न होकर अपने समय को कन्द-मूल फल खाकर तपस्या करते हुए बिताते। क्यों मेरे जगत् विख्यात पूर्वज प्रातःस्मरणीय महाराज ध्रुव घर छोड़कर मधुवन जाते। कैसे ५ ही वर्ष की अवस्था में भगवान् का साक्षात्कार करते। कैसे वे एक रथ से

ही इतने बली उपदेवों-यक्षों को जीत लेते। हमारे पितामह राजर्षि अङ्ग इतना धर्माचरण क्यों करते? किसलिये वे धर्म को ही सर्वस्व समझते। ये सब इतने बड़े-बड़े तेजस्वी, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि सब क्या बुद्धिहीन थे? ये त्रिकालज्ञ थे। ईश्वर न होता तो ये इतने परलोक सम्बन्धी साधन क्यों करते। परलोक न होता तो ये यज्ञभाग आदि धार्मिक कृत्यों में इतना श्रम क्यों करते। इन्द्रादि देव, ब्रह्मा, विष्णु आदि जगत् पूज्य ईश्वर क्यों भगवान् विष्णु की आराधना करते। देवों में नहीं दैत्यों में प्रह्लाद बलि आदि भगवत् भक्त उनकी निरन्तर आराधना में क्यों लगे रहते। ये सब आस्तिक थे, धर्मात्मा थे, परमात्मा और परलोक को मानने वाले थे, धार्मिक कृत्यों पर विश्वास करने वाले थे।

हाँ, कुछ ऐसे भी मृत्यु की पुत्री के पुत्र आदि हुए हैं जो धर्म अर्थ, काम तथा मोक्ष आदि समस्त पुरुषार्थों के दाता श्रीहरि को नहीं जानते थे। वे अपने आपको ही सब कुछ समझते थे। अङ्ग सम्बन्ध से वे मेरे पिता थे, अतः ऐसे लोगों की मैं निन्दा तो क्या करूँ किन्तु इतना अवश्य कहूँगा, ऐसे धर्मविमूढ़ नास्तिक लोग अत्यन्त सोचनीय हैं।

आपही बताइये, जो भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने को सदा व्यग्र बने रहते हैं, जिनके अरविन्द-सदृश कोमल कमनीय चरणों में बढ़ी हुई भक्ति तपस्वियों तथा भक्तों के अनेकों जन्मों से सञ्चित मनोमल को क्षण भर में तत्काल ही नष्ट कर देती है, जो भक्तों के एकमात्र आश्रय हैं, उन चरणों की शरण कौन बुद्धिमान् पुरुष न लेगा।

उनके चरणों की महिमा को तो जाने दीजिये। जिन चरणों के अँगूठे के नख के स्पर्श होने के कारण श्रीगङ्गाजी त्रैलोक्य-पावनी कलि-कल्मष-हारिणी बन गई है, जो अपनी शरण में आये हुए जीवों के सभी दुरितों को दूर कर देती हैं, उन गङ्गाजी में

इतना प्रभाव कहाँ से आया, क्यों आया ? तो कहना पड़ेगा यह सब उन कमल-सरिस पाद-पद्मों का ही पुण्य प्रभाव है। जिन चरणों का आश्रय लेने से कर्म वासनाओं में आबद्ध पुरुष अपने सम्पूर्ण मनोमल से मुक्त होकर निर्मल बन जाते हैं तथा असङ्ग होकर ज्ञानार्जन करते हुए विशेष बल प्राप्त करके इस कोलाहल-पूर्ण दुःखमय जगत् को पार कर जाते हैं, फिर इस संसार-चक्र में नहीं फँसते उन चरणों का आश्रय कौन मुक्ति की इच्छा वाला प्राणी न लेगा।

इसलिये भाइयो ! प्रजा के सभ्य महानुभावो ! आप मेरी बात मानें। आप उन सर्वेश्वर हरि का नित्यप्रति विविध उपायों से भजन करें जिनके चरणकमल सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं। उनकी यज्ञों द्वारा पूजा करके स्तुति प्रार्थना के द्वारा आराधना करें। अपनी वर्णोचित वृत्ति द्वारा न्याय से उपार्जित धन से उनका भजन पूजन करें। जैसा जिसका अधिकार हो, जैसी जिसकी शक्ति हो उसी के अनुसार कथालब्धोपचारों से उन चारु चरित्र वाले चितचोर भगवान् वासुदेव की परिचर्या करें।

आप कह सकते हैं कि भगवान् तो गुणों से रहित हैं, निर्गुण, निराकार, निर्लेप, निरीह और निरवलम्ब हैं, उनकी नाना द्रव्यों गुणों, क्रियाओं और उक्तियों के द्वारा की हुई पूजा से लाभ क्या ? उनके निमित्त अर्थ, आशय, लिङ्ग और इन्द्र वरुण आदि नामों से युक्त अनेक-गुण-सम्पन्न राजसूय, अश्वमेध वाजपेयादि यज्ञ करने से क्या लाभ होगा। इन सबसे उनका पूजन कैसे होगा, सो भैया ! वे विशुद्ध विज्ञानघन प्रभु भावमय हैं, सबकी भावनाओं को जानते हैं, जो उन्हें जिस भावना से भजता है जो उनकी जिस भाँति से शुद्ध चित्त होकर आराधना करता है, उसे वे वैसा ही उसी रूप में फल देते हैं। इसे यों समझो। अग्नि एक है और सर्व-व्यापक है, निराकार भी है, उसका न कोई आकार है न रूप।

फिर भी वह जिस वस्तु में जैसे ईंधन में प्रवेश करती है, वैसा ही उसका रूप दिखाई देने लगता है। यदि टेढ़ी लकड़ी में लग जाती है तो अग्नि टेढ़ी दिखाई देती है। यदि स्थूल में प्रवेश करती है तो स्थूल दीखती है, पतली लकड़ी में पतली, मोटी में मोटी, धोती में धोती-सी, लँगोटी में लँगोटी-सी दीखती है। उसी प्रकार वे सर्वव्यापक प्रभु ही प्रकृति, काल, अन्तःकरण और वासनाओं के समूह रूप इस देह में चेतना को प्राप्त करके नाना रूपों में दिखाई देते हैं। वे ही भावना के अनुसार यज्ञादि क्रियाओं के फल रूप से भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतीत होते हैं। ऐसे प्रभु ही सबके पूजनीय हैं, बन्दनीय हैं, आदरणीय हैं, यजनीय और भजनीय हैं जो बन्धु उन जनबन्धु का वन्दन करते हैं, जो प्रजाजन उन परात्पर प्रभु का प्रेमपूर्वक पूजन करते हैं, जो भक्तजन उन भवभय भञ्जन, भक्त भयहारी भजनीय भगवान् का भजन करते हैं, जो अमल पुरुष उन अनादि अज अच्युत का एकाग्रचित्त से अर्चन करते हैं, वे सब मेरे ऊपर बड़ी कृपा करते हैं, उनके द्वारा संसार का बड़ा उपकार हो रहा है, वे संसार में भव्य भावों का स्रोत बहा रहे हैं, वे अपना परलोक तो बना रहे हैं, जनता को भी सुख पहुँचा रहे हैं। आप सब मेरे ऊपर ऐसी ही कृपा करें मुझे यही भिक्षा दें कि आप निरन्तर उन अखिल विश्व के त्राता संसार के सुखदाता उन अखिलेश का अव्यग्र भाव से आराधन करें।

मेरे पिता ने अपने को ही सब कुछ समझकर प्रधानतया दो कार्य किये। एक तो उन्होंने सर्वत्र ईश्वराधन बन्द कराया था दूसरा ब्राह्मणों का अपमान किया था। जिसके कारण उनकी मृत्यु हुई। आप इन दोनों कामों से सदा दूर रहें। जैसे आप ईश्वर को मानें उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणों का भी आराधन करें। वेदों को धारण करने वाले ब्रह्म को बताने वाले, परलोक को लखाने वाले ये भूसुर ही हैं। ये ही हमारे इष्ट हैं, ये ही हमारे देवता

हैं। तपस्या सहनशीलता और विद्या के द्वारा देदीप्यमान तथा अच्युत की ही अनन्य भाव से आराधन करने वाले विप्रों पर कोई अपना राजापने का, ऐश्वर्यपने का तेज न दिखावे। ब्राह्मण हमारे कुलदेवता हैं। आप लोग सोचें—भगवान् तो सबके पूजनीय तथा वन्दनीय हैं, ऐसा होने पर भी वे ब्राह्मणों की भक्तिपूर्वक वन्दना करते हैं, इसीलिये वे ब्रह्मण्यदेव कहलाते हैं। जिनकी पूजा निरन्तर ब्रह्मा, रुद्र आदि बड़ी भाव भक्ति से करते हैं, वे श्रीहरि ब्राह्मण के पादचिह्न को भक्ति सहित अपने हृदय में धारण करते हैं। वे बार-बार कहते हैं, ब्राह्मणों के प्रसाद से मैं लक्ष्मीवान् तथा जगद्वन्द्य बना हुआ हूँ। मैं उनकी पादधूलि को सिर पर चढ़ाकर कृतार्थ होता हूँ। ऐसे भगवान् से भी पूजित ब्रह्मकुल का कभी स्वप्न में भी अपमान न करना चाहिये। भगवान् के दो मुख बताये हैं, एक तो अग्नि और दूसरा ब्राह्मण। फिर भी भगवान् अग्नि में हवन करने से उतने प्रसन्न नहीं होते, जितने ब्राह्मणों के मुख में हवन करने से प्रसन्न होते हैं। गरमागरम मोहन भोग जिसमें से घृत चू रहा हो ऐसे संयाव हलुए को जो ब्राह्मणों के वेद से परमपावन हुए मुख में हवन करता है, उसके तो भगवान् किङ्कर बन जाते हैं। उसने मानों भगवान् को इतने ही मूल्य में सदा के लिये मोल ले लिया। जितने चाव से भगवान् वेदज्ञ ब्राह्मणों के मुख में हवन किये हुए पदार्थों को ग्रहण करते हैं, उतने चाव से विधि विधानपूर्वक अग्नि में हवन किये हुए यज्ञ भाग को स्वीकार नहीं करते।

आप कहेंगे कि यह तो आप पक्षपात कर रहे हैं, ब्राह्मणों में ऐसी क्या विशेषता है, जो उनका हम ईश्वरबुद्धि से पूजन करें, जैसे ही हाथ पैर उनके, वैसे ही हमारे। जैसा ही हाड़ मांस का शरीर उनका, वैसा ही हमारा। जैसा ही लाल रक्त उनका, वैसा ही हमारा। फिर हम उनका इतना आदर क्यों करें सो भैया, यह

बात नहीं। देखो भैया, ब्राह्मण लोग शरीर से सबके समान होते हुए भी सबसे विलक्षण हैं। जो प्रत्येक धाम, नित्य, शुद्ध सनातन वेद को श्रद्धा, तप, सदाचार, मौन, संयम और समाधि के सहित धारण करते हैं उनकी बराबरी संसार में कौन कर सकता है।

आप कह सकते हैं कि जो ब्राह्मण इन गुणों से हीन है, जो संयम सदाचार से रहित है उसकी पूजा क्यों करें। वह तो जैसे काठ का घोड़ा नाममात्र का घोड़ा है उसी प्रकार नाममात्र का ब्राह्मण हैं। जो ब्रह्म को नहीं जानता वह ब्राह्मण नहीं। यह ठीक है, फिर भी आपको ऐसे निर्गुण ब्राह्मण का भी निरादर न करना चाहिये। ऐसा ब्राह्मण तो साहसहीन स्वयं ही भयभीत बना रहता है, किन्तु तुम्हारे द्वारा कुल परम्परा की मर्यादा के निमित्त ऐसे नाममात्र के ब्राह्मण का भी अपमान ठीक नहीं। देखो, भगवान् का अवतार गौ और ब्राह्मण की रक्षा के ही निमित्त होता है। गौ ब्राह्मण भगवान् के अङ्ग ही हैं। अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। सारा सिद्धान्त यही है कि आप भगवान् को मानें। भगवान् की सिद्धि वेद शास्त्रों के ही द्वारा होती है, अतः वेद शास्त्रों के धारण करने वाले ब्राह्मणों को भी मानें और सदा सर्वदा, यज्ञ-याग, जप, तप, पूजा, पाठ, कथा श्रवण, भगवन्नाम सङ्कीर्तन आदि शुभ साधन करते रहें।

महानुभावो! अब अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। अन्त में मैं आप सबसे पल्ला पसारकर यही भीख माँगता हूँ कि मेरी भगवान् के चरणारविन्दों में अहैतुकी भक्ति बनी रहे, मैं ब्राह्मणों की चरण धूलि को सदा अपने सुवर्ण मण्डित मुकुट में श्रद्धा सहित धारण किये रहूँ, जो निष्पाप पुरुष विप्र पद रज को भक्ति सहित सेवन करते हैं गुरु सुश्रूषु, सकल गुणों के धाम, कृतज्ञ और परम सुशील हो जाते हैं, उन पर भगवान् शीघ्र प्रसन्न होते हैं। अतः मेरी गोविन्द में, गौ वृन्द में और विप्र पदारविन्दों में एक-सी

भक्ति बनी रहे। आप सब मिलकर मुझे हृदय से यही आशीर्वाद दें कि मेरे प्रत्येक कार्य भगवत् सेवा के ही निमित्त हों। सर्वेश्वर भगवान् मेरे ऊपर सदा प्रसन्न रहें। मुझे अपने चरणों की अव्यभिचारिणी भक्ति प्रदान करें।

मैंने जो कुछ कहा है, आपके हित की दृष्टि से कहा है, राजा होने के अभिमान से नहीं। आपने जो सेवा मुझे समर्पित की है, उसी भाव से भावित होकर मैंने अपने कर्तव्य का पालन किया है। इसमें जो आपको कुछ सार प्रतीत हो, उसे आप ग्रहण करें और कोई धर्मविरुद्ध बात हो तो उसका त्याग कर दें। धर्म का यथार्थ मर्म तो ये ब्राह्मण बतावेंगे, इन्हीं से आपको धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिये। मैंने तो इन्हीं के मुख से सुनी हुई बातें आपको इनके समक्ष सुना दी हैं। यदि मेरे कहने में कुछ त्रुटि रह गई होगी तो ये गुरुजन उसका संशोधन कर देंगे।

सबसे अन्त में मेरी यही प्रार्थना है कि यदि भूल से प्रमादवश मैंने किसी पर अनुचित आक्षेप कर दिया हो, किसी के हृदय को चोट पहुँचाई हो तो वे मुझे क्षमा कर दें। मेरा उद्देश्य किसी का खण्डन-मण्डन न करके धर्म की स्थापना और आस्तिक भावों का प्रचार मात्र ही था। मङ्गलमय भगवान् हमारा तुम्हारा सबका मङ्गल करें, सबकी बुद्धि धर्म में लगावें, सबके हृदय में अपनी भक्ति का सञ्चार करें। शान्ति शान्ति शान्ति शुभं भूयात्!

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज का भाषण समाप्त होते ही चारों ओर से "साधु-साधु जय-जय नमोनमः" का तुमुल घोष होने लगा। सर्वत्र आनन्द और उल्लास छा गया। महाराज के ऊपर देवताओं ने पुष्पों की वृष्टि की। दुन्दुभी आदि बाजे बजने लगे। सूत मागध आदि स्तुति करने लगे। महाराज ऋषि मुनियों और ब्राह्मणों को प्रणाम करके अपने आसन पर जा बैठे।"

छप्पय

धन्य प्रजाके पुरुष करहिँ जे पूजा प्रभुकी ।
ते अति आदरणीय करहिँ जे अर्चा विभु की ॥
धर्ममूल है धेनु यज्ञ हित घृत जे देवें ।
दूसर भूसुर कहे वेद जे विधिवत सेवें ॥
विप्र कमल पद रेणुकूँ, नित सिरतें धारन करहुँ ।
कृष्णार्पण करि करहुँ सब, फर्क व्यथा सबकी हरहुँ ॥

प्रजा द्वारा महाराज पृथु के उपदेश का अभिनन्दन

[२७६]

अहो वयं ह्यद्य पवित्रकीर्ते
त्वयैव नाथेन मुकुन्दनाथाः ।
य उत्तमश्लोकतमस्य विष्णो-
र्ब्रह्मण्यदेवस्य कथां व्यनक्ति ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० २१ अ० ४६ श्लोक)

छप्पय

सुने वैन सुत बैन नैन सबके भरि आये ।
सुनि अभिभाषण साधु-साधु सबई चिल्लाये ॥
उठे वृद्धसे पुरुष एक प्रतिनिधि परजाके ।
धन्यवाद बहु दये मञ्चके ढिँगमहँ जाके ॥
पिता पुत्र द्वारा परम, प्राप्त पुण्य लोकनि करहिँ ।
मई सत्य वेदोक्ति जिह, पृथु पितुके पापनि हरहिँ ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! महाराज पृथु का उपदेश श्रवण करके प्रजा के पुरुष कहने लगे—हे पवित्र कीर्ति वाले महाराज ! आज हम आपको अपना स्वामी पाकर यथार्थ में भगवान् की प्रजा बन गये । मुकुन्द ही हमारे नाथ हो गये । क्योंकि आप हमारे सम्मुख उत्तम श्लोक भगवान् ब्रह्मण्यदेव की कथाओं को कहते हैं । हमें भागवती कथा सुनाते हैं ।"

यह प्राचीन शिष्टाचार है कि जो अपने प्रति उपकार करे, उसके उस उपकार के बदले में हम उसके आभारी हों, उसे धन्यवाद दें, उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करें, उसके छोटे से उपकार को बड़े-से-बड़ा मानकर आदर करें और सदा उसके उपकार के लिये हृदय में आदर के भाव बनाये रखें। जो उपकार कर्ता के प्रति मनसा वचसा तथा कर्मणा कृतज्ञता प्रकट नहीं करता, उसके आभार को नहीं मानता वह कृतघ्नी कहलाता है। वसुन्धरा का कहना है मैं इतने बड़े हिमालय, सुमेरु आदि पर्वतों को सरलता के साथ धारण किये रहती हूँ। लाखों-करोड़ों बड़े-बड़े पर्वतों के धारण से मुझे उतना कष्ट नहीं होता, जितना एक कृतघ्न के धारण करने से होता है। कृतघ्नता एक महान् पाप है। इसीलिये हमारे यहाँ स्वल्प उपकार के प्रति भी सम्मान करने की आज्ञा है। जो हमें एक भी अच्छी बात बता दे, एक भी अक्षर पढ़ा दे, उसका अपमान करने वाला करोड़ों वर्ष तक नरकों में पचता रहता है। अन्त में वह विष्ठा का कीड़ा होता है।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! जब महाराज पृथु अपना भाषण समाप्त कर चुके तो चारों ओर हर्ष-ध्वनि होने लगी। सब एक स्वर में गगन भेदी वाणी में 'साधु-साधु' 'धन्य-धन्य' कहने लगे। सब पूरी शक्ति लगाकर महाराज पृथु की जय, नर रूप धारी श्रीहरि की जय, इस प्रकार जय घोष करने लगे। जब चारों ओर कोलाहल हो गया, सभी प्रेम के आवेश में अपने आपे को भूल गये तो सबके संकेत करने पर एक वृद्ध से अनुभवी पुरुष उठे। उन्होंने उपस्थित ऋषि-महर्षियों को प्रणाम किया, महाराज का आदर किया और सबकी ओर से अपने सम्राट् के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने को उद्यत हुए। मुनियों की अनुमति पाकर मञ्च के समीप पहुँचकर जिस प्रजा की भीड़ में समुद्र के समान हर्ष की ऊर्मियाँ उठ रही हैं, उसे शान्त करते हुए तथा सबका ध्यान अपनी ओर

आकर्षित करते हुए, वे तेजस्वी वृद्ध पुरुष बोले—"ऋषि-महर्षियो तथा प्रजा के समुपस्थित भाइयो ! सब लोगों की ओर मुझे आज्ञा हुई है कि हमारे सम्राट् ने जो हमें अनुपम उपदेश दिया है, उसके प्रति मैं सबकी ओर से कृतज्ञता प्रकट करूँ। महाराज के उपकार के प्रति हम शब्दों में अपनी कृतज्ञता कैसे प्रकट कर सकते हैं। जो माता सन्तान को नाना कष्ट सहकर ९ महीने उदर में धारण करती है, जो पिता पाल-पोसकर स्वयं कष्ट सहकर बच्चे को इतना बड़ा बनाते हैं, उन माता-पिता के ऋण से कोई भी पुत्र कभी भी सेवा करके उऋण नहीं हो सकता। जीवन भर भृत्य के समान सेवा करने पर भी उनके उपकारों का बदला नहीं चुका सकता। माता-पिता तो थोड़े ही समय तक पालन करते हैं, किन्तु ये हमारे पृथ्वीपति पिता तो जीवन भर हमारी सभी सुविधाओं का ध्यान रखते हैं, हमें सदा भय से बचाते हैं, हमारी आजीविका का प्रबन्ध करते हैं, तिस पर भी ऐसे अनुपम उपदेश देकर हमें परमार्थ पथ की ओर प्रेरित करते हैं। ऐसे पिता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना हमारी शक्ति के बाहर की बात है। आज हम अपने ऐसे स्वामी को पाकर साक्षात् परमेश्वर को ही प्रजापति रूप में प्राप्त करके कृतकृत्य हो गये, हमारा जीवन सफल हो गया, हम धन्य-धन्य हो गये।

एक सुप्रसिद्ध वेद वाक्य है, जिसका भाव है "पिता पुत्र के द्वारा पुण्य लोकों की प्राप्ति करता है।" आज यह श्रुति अक्षरशः सत्य हो गई। महाराज वेन के क्रूर कर्मों को बताने की आवश्यकता नहीं उसे सभी जानते हैं, वे वेद विरुद्ध आचरण करने के कारण तथा भगवान् की निन्दा करने के कारण श्रीहीन हो गये थे, इसलिये ब्राह्मणों की शाप रूपी क्रोधाग्नि में भस्म हो गये। शास्त्र का सिद्धान्त है कि और चाहे किसी प्रकार की अपमृत्यु वाले पुरुष की सद्गति हो भी सकती है, किन्तु ब्रह्मशाप से दग्ध हुए

प्राणियों की निष्कृति का कोई भी उपाय नहीं। भूतपूर्व महाराज ने इतने अन्याय किये थे कि कोटि कल्पों तक नरक की अग्नि में पचते रहने पर भी उनका उद्धार नहीं हो सकता था, किन्तु आज इन श्रीहरि स्वरूप नरनाथ को पुत्र रूप में पाकर वे भी विमुक्त बन गये। उनका भी नरक से उद्धार हो गया। सत्पुत्र वही है जो अपने पितरों के पापों का प्रायश्चित्त करके उन्हें नारकीय यातनाओं से बचा सके।

हम सुनते आये हैं कि प्राचीन काल में हिरण्यकशिपु दैत्य ने भी ऐसे ही पापाचार किये थे, वह भी भगवान् से द्वेष रखता था, वह भी अखिलात्मा श्रीहरि की निन्दा करता था। वह भी श्रीमन्नारायण की नित्य निन्दा करके अपने पाप रूपी घट को भरता जाता था, किन्तु उनके पुत्र महाभागवत प्रह्लादजी ऐसे हुए कि उन्होंने उसके समस्त पापों का परिमार्जन कर दिया, उसे नरक की अग्नि के ताप से बचा लिया, नरक रूपी सागर में निमग्न होते हुए पिता को उबार लिया। सत्पुत्र का कार्य ही यह है।

हे हमारे हृदयेश्वर, हे हमारे हृदय सम्राट्! हम किन शब्दों में आपकी स्तुति करें। क्या वस्तु समर्पित करके आपके प्रति भक्ति प्रदर्शित करें। हम पर आपके अनुरूप भेंट करने को कोई वस्तु नहीं है। हम सब दो हस्तक और एक मस्तक नवाकर आपके प्रति सम्मान प्रदर्शित करके परम पिता परमात्मा के पाद पद्मों में पुनः-पुनः यही पुनीत प्रार्थना करते हैं कि आप अनन्त-काल तक जीवित रहकर इसी प्रकार हमें सदुपदेश देते रहें, इसी प्रकार हमारा प्रेम-पूर्वक पालन करते रहें।

हे नरनाथ! हे पवित्र कीर्ति वाले यशस्वी सम्राट्! हे हमारे जीवन सर्वस्व! आज हम पृथ्वी पर रहकर भी वैकुण्ठ के सुख का अनुभव कर रहे हैं। हे ब्रह्मण्यदेव! हम उस स्वर्ग को तुच्छ समझते हैं, जहाँ श्रीहरि के गुणगण निरन्तर श्रवण करने को न मिलें।

इसके विपरीत हम उस नरक में अनन्त काल तक रहने को तैयार हैं, जहाँ श्रीहरि के गुणानुवाद होते रहते हों। आज नरनाथ होकर इतने ऐश्वर्य सम्पन्न होकर भी आप हमें उत्तम श्लोक श्रीपुरुषोत्तम की कमनीय कथा सुना रहे हैं उनकी अनुपम लीलाओं को व्यक्त कर रहे हैं। हे स्वामिन्! आज हम मुकुन्द को अपने स्वामी रूप में पाकर यथार्थ में प्रजा कहलाने के अधिकारी बन गये, धन्य-धन्य हो गये।

हम आपकी इस अहैतुकी कृपा को प्राप्त करके भौचक्के से रह गये कि क्या हम सब इतनी कृपा के अधिकारी हो सकते हैं? फिर सोचते हैं, हम चाहे अधिकारी न भी हों, किन्तु आश्रितों पर कृपा करना, भूले भटकों को सुपथ दिखाना, यह तो आप जैसे परोपकार व्रती पुरुषों का सहज स्वभाव ही होता है, इसमें आश्चर्य करने की कोई बात भी नहीं। अपना अयोग्य पुत्र भी प्यारा होता है, अपनापन जिसमें हो जाता है, उसकी योग्यता की ओर ध्यान नहीं जाता। उसे तो निबाहना ही होता है, इसी प्रकार हम योग्य अयोग्य जैसे भी हैं, आपके हैं और आप उसी नाते अयोग्य होने पर भी हमारा पुत्र के समान पालन कर रहे हैं, हमें देवताओं को भी दुर्लभ कृष्ण कथा सुनाकर कृतार्थ कर रहे हैं। अब तक हम दैव नामक प्रारब्ध के अधीन होकर अन्धों के समान घोर निविड़ान्धकार में भटक रहे थे, आपने आज बलपूर्वक हाथ पकड़कर हमें उस अज्ञानान्धकार से अपनी कृपा-वश उबार लिया। हमें कुपथ से हटाकर सुपथ पर लाकर रख दिया। अधिक हम क्या कहें, कहने योग्य कोई बात भी नहीं, कहने की हममें शक्ति भी नहीं। केवल क्षत्रिय रूप धारण किये सत्यमूर्ति ब्रह्मण्यदेव जगत्पति आप पुरुषोत्तम के पूजनीय पाद-पद्मों में प्रणाम करते हुए इन टूटे-फूटे शब्दों में अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! उन वृद्ध पुरुष ने ज्यों ही अपना भाषण समाप्त किया, त्यों ही जय हो, जय हो। 'महाराज की जय हो, पृथ्वीपति पुरुषोत्तम की जय हो, प्रजापालक पृथु भगवान् की जय हो, जय हो, जय हो, जय हो, ऐसे जयघोष चारों ओर से होने लगे। सभी ने उन वृद्ध पुरुष के कथन का अनुमोदन और समर्थन किया।

छप्पय

भये कृतारथ आजु हमनि अच्युत पति पाये।
प्रभो ! धन्य सुनि भये अबहिँ जो हरिगुन गाये॥
जुग-जुग जीवें नाथ सदा अस सीख सिखावें।
सुनि श्रीमुख हरि सुयश हृदय हमरे हुलसावें॥
मति मलीन अति दीन हम, नहीं भेंट सम्मान है।
केवल श्रद्धा सहित प्रभु ! पद पद्मनि परनाम है॥

महाराज पृथु की सभा में सनकादि सिद्धों का प्रादुर्भाव

[२७७]

जनेषु प्रगृणत्स्वेवं पृथुं पृथुलविक्रमम् ।
तत्रोपजग्मुर्मुनयश्चत्वारः सूर्यवर्चसः ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० २२ अ० १ श्लोक)

छप्पय

सभामाहिँ सनकादि तबहिँ नभ मारग आये ।
प्रजा सहित पृथु उठे सबनि चरननि सिर नाये ॥
सिंहासन बैठाइ विविध विधि पूजा कीन्हीं ।
राजकोष, सम्पत्ति, देह अरपन करि दीन्हीं ॥
हाथ जोरि गद्गद गिरा, कहत वचन विह्वल भये ।
करे कृतारथ कृपानिधि ! सुर दुरलभ दरसन दये ॥

इस भूमण्डल में बहुत से सिद्ध सूक्ष्म रूप से घूमा करते हैं, बहुत से विविध वेष बनाकर अपने को छिपाये हुए स्थूल रूप से भी घूमते हैं। वे अधिकारी पुरुषों को उपदेश देते हैं। भक्तों को विपत्तियों से सहसा बचाते हैं। कभी-कभी तो प्रत्यक्ष देखा गया है कि नौका पानी से भर गयी है, अब डूबी, अब डूबी हो

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इस प्रकार प्रजा के पुरुष परम पराक्रमी पुरुषोत्तम पृथु की स्तुति कर ही रहे थे कि उसी समय सूर्य के समान कान्ति वाले सनकादि चारों महर्षि राज-सभा में पधारे।"

रही है, किसी अव्यक्त हाथ ने ऐसे जोर का धक्का मारा कि वह पार लग गई और पृथ्वी पर टिक गई। कुछ तो प्राचीन चिरजीवी सिद्ध पुराणों में प्रसिद्ध ही हैं। जैसे सनक, सनन्दन, सनतकुमार, सनातन, नारद, ऋभु, अङ्गिरा, देवल, शुक, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातूकर्ण्य, आरुणि, रोमश, च्यवन, दत्तात्रेय, आसुरी पतञ्जलि, वेदशिरा, वोध्य, पञ्चशिरा, हिरण्यनाभ, कौशल्य, श्रुतदेव, ऋत-ध्वज आदि-आदि। इनमें से बहुत से ऐसे हैं जिनके सामने अनेकों ब्रह्मा बदल गये। ये संसार के कल्याणार्थ, दीन दुखियों के दुख दूर करने तथा अधिकारियों को उपदेश देने के लिये विचरते रहते हैं। इसलिये पहिले शम, दम, यम, नियम आदि सद्गुणों और पुण्य कार्यों द्वारा पात्र का सम्पादन करना चाहिये। पात्रता प्राप्त होने पर सिद्ध स्वयं ही आकर तुम्हें उपदेश देंगे। जितना साधक सद्गुरु की प्राप्ति के लिये व्यग्र रहता है उससे शत सहस्र अनन्त गुणा गुरु सत् शिष्य के लिये अधीर रहता है। पात्रता होने पर ही दोनों का संयोग होता है। अपात्र पर उपदेश ठहरता नहीं। फूटे घड़े में पानी भरकर रख दो, बह जायगा, नष्ट हो जायगा।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महाराज पृथु वैसे तो ईश्वर ही थे, फिर भी उन्होंने नरपति का वेष बनाया था, अतः उन्होंने दान, धर्म, जप, तप तथा यज्ञों द्वारा अपने अन्तःकरण को पवित्र किया, पात्रता का सम्पादन किया। जब पूर्ण पात्रता आ गई तब उन्हें भगवान् के दर्शन हुए। दर्शन होने पर भी भगवान् ने आज्ञा दी कि तुम्हें उपदेश देने सनकादि महर्षि स्वयं तुम्हारे यहाँ पधारेंगे! वे तुम्हारे संशयों का छेदन करेंगे। महाराज पृथु को तो संशय होने ही क्या थे, फिर भी लोक शिक्षा के निमित्त उन्हें योग्य अधिकारी समझकर सनकादि सिद्ध महर्षि उनके समीप आये।

सभा खचाखच भरी थी, सभी श्रेणी के पुरुषों का जमाव था। ऋषि मुनि विप्र और पूजनीय पुरुष सभी को सुशोभित कर रहे थे। महाराज पृथु अपना भाषण समाप्त कर चुके थे, प्रजा की ओर से आभार प्रदर्शित हो चुका था, सभा के पुरुष हर्ष ध्वनि कर रहे थे कि सभी को ऊपर से पीली-पीली जटा फैलाये चार देवताओं के समान दिव्य पुरुष आकाश से उतरते हुए दिखाई दिये। उनके तेज से दशों दिशायें आलोकित हो रही थीं। महाराज पृथु की ज्यों ही दृष्टि ऊपर की ओर गई त्यों ही उन्हें भगवान् की बात स्मरण हो आई कि भगवान् ने कहा था तुम्हें उपदेश करने सनकादि चारों सिद्ध आदि ऋषि आवेंगे। महाराज संभ्रम के सहित हाथ जोड़े हुए उठकर खड़े हो गये। महाराज के उठते ही समस्त प्रजा के पुरुष उठ खड़े हुए। ऋषि मुनियों ने भी अपने आसन छोड़ दिये। बात-की-बात में अपने प्रकाश से सभा-मण्डप को प्रकाशित करते हुए चारों सनकादि कुमार आकर महाराज के समीप खड़े हो गये।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"ऋषियो! सभा में जब कोई श्रेष्ठ सम्माननीय पुरुष पधारते हैं तो छोटे पुरुषों के प्राण उनकी ओर उत्क्रमण करने लगते हैं। जब अभ्युत्थान आदि के द्वारा उनका स्वागत्-सत्कार करते हैं तो प्राण पुनः अपने स्थान पर हो जाते हैं। सनकादिकों का सम्मान करते ही सबके प्राण यथा स्थान हुए। महाराज पृथु ने कन्धों को झुकाकर हाथों की अञ्जलि बाँधकर अत्यन्त बिनयावनत होकर उनका आदर किया। दिव्य सुवर्ण के सिंहासनों पर जिन पर मखमली गुलगुले बहुमूल्य तोसक-तकिया लगे हुए थे उन पर सबको सत्कार पूर्वक बिठाया पाद्य अर्घ्य आचमनीय आदि से उनकी विधिवत् पूजा की। अपने सम्मुख सुख से सिंहासन पर विराजमान पूर्वजों के भी पूर्वज भगवान् रुद्रदेव के भी अग्रज उन कुमारों से शिष्टाचार युक्त वचन बोले।

महाराज ने अत्यन्त नम्रता के साथ दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधे हुए कहा—"हे मङ्गलमूर्ते ! हे सम्पूर्ण लोकों द्वारा नमस्कृत ऋषिश्रेष्ठो ! पता नहीं आज मेरा कौन-सा पुण्य उदय हो उठा। कौन से सुकृत कर्मों का आज सहसा फल प्रकट हो गया जो आपका देवदुर्लभ दर्शन मुझ दीन-हीन को अकस्मात् हो गया। इतना भारी पुण्य इस जन्म में तो मुझसे हुआ नहीं, जिसके फलस्वरूप आपके दर्शन हो सकें।"

इस पर सनत्कुमार बोले—"राजन् ! आप तो बड़े धर्मात्मा हैं, आपने अपने पुण्य-प्रभाव से परात्पर प्रभु परमेश्वर को प्रसन्न कर लिया है। स्वयं उन्होंने आपके यज्ञ में पधारकर आपको कृतार्थ किया है।"

इस पर महाराज पृथु बोले—"हाँ, भगवन् ! यह ठीक है भगवान् ने मुझे दर्शन दिये थे, किन्तु वह किसी पुण्य का फल नहीं था। कौन-सा ऐसा पुण्य है जिसके वश में भगवान् हो सकें। भगवान् ने तो कृपावश मुझे दर्शन दिया था, उन्होंने तो दया करके मेरे इन नेत्रों को पवित्र किया था। ब्राह्मणों के आशीर्वाद से मुझे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो सका था जिस पर ब्राह्मणों की कृपा हो, भगवान् भूतनाथ का अनुग्रह हो और श्रीहरि दया करके जिसे दर्शन दे दें, उनके लिये संसार में दुर्लभ ही क्या है। प्रतीत होता है भगवद्दर्शन का ही यह फल है कि आपके दुर्लभ दर्शन का मुझे आज सौभाग्य प्राप्त हुआ। भगवद्दर्शन भगवत् कृपा का फल है और साधु सन्तों का दर्शन भगवद्दर्शनों का फल है।"

सनत्कुमारजी ने कहा—"अरे, भैया ! हमारा क्या दर्शन हम तो ऐसे घूमते ही फिरते हैं।"

इस पर महाराज बोले—"नहीं भगवन् ! यह बात नहीं। आप अवश्य ही वायु की भाँति सम्पूर्ण लोकों में सदा स्वेच्छानुसार घूमते रहते हैं, सर्वसाधारण लोग समीप आने पर भी

आपको जान नहीं सकते। जैसे इस दृश्य प्रपञ्च के कारण भूत महत्तत्वादि गुण, सर्व साक्षी आत्मा को सबमें समान रूप से व्याप्त होने पर भी पहिचान नहीं सकते। वे धनहीन पुरुष भी धन्य हैं, जिन्हें आपकी परिचर्या करने का, सुयोग्य प्राप्त हो जाता है। और कुछ घर में न हो तो आपको तृण का आसन दे दे। आसन न हो तो हाथ से बहारकर पृथ्वी ही बता दे। जल दे। इतने से ही वे कृतकृत्य हो जाते हैं। इतने से ही वे मनुष्य जीवन का फल प्राप्त कर लेते हैं। इसके विरुद्ध जिनके घर में अटूट धन भरा है जो सर्व सम्पत्तियों से युक्त हैं। फिर भी जिन पर आपकी कृपा नहीं हुई, आपके पादपद्म की पुनीत पराग और पय के संसर्ग से पङ्क न हुई तो वह घर तो शमशान के तुल्य, सर्प की वामी के तुल्य, कबूतरों के खोतरों के तुल्य तथा जुआरियों के आवास के तुल्य है।"

इस पर सनत्कुमारजी ने कहा—"राजन्! बहुत शिष्टाचार हो गया अब कुछ काम की बातें करो।"

महाराज बोले—"नहीं भगवन्! मैं शिष्टाचार से नहीं कह रहा हूँ। आपकी प्रशंसा कोई कर ही क्या सकता है? सहनशीलता, धैर्य, ज्ञान, वैराग्य आदि षट्सम्पत्ति जिन्हें मुमुक्षु पुरुष साधन करते-करते चिरकाल के अनन्तर प्राप्त करते हैं, वे सब सद्गुण आप में जन्म से ही स्वाभाविक हैं। आप तो ब्रह्माजी के आदि पुत्र हैं। माया मोह आपको स्पर्श भी नहीं कर सके हैं।"

यह सुनकर सनातनजी बोले—"हाँ, ये सब बातें तो हो गयीं। अब राजन्! कुशल क्षेम कहिये।"

महाराज बोले—"भगवन्! इस कोलाहल पूर्ण संसार में कुशल कहाँ? कुशल तो आपके चरणों में है। कर्मों के वशीभूत हुए हम नाना प्रकार के दुःख भोग रहे हैं। ऐसी अवस्था में हमारी कुशल तो तभी हो सकती है जब आप अनुग्रह करें। रही आपसे

कुशल पूछने की बात सो भगवन् ! आप सब तो कुशल स्वरूप ही हैं। आपकी तो कभी स्वप्न में भी अकुशल नहीं। अमृत के सागर से खारा पानी की बात क्या पूछना। आप तो साक्षात् भगवत् स्वरूप हैं। मैं तो यही पूछना चाहता हूँ कि हम जैसे इन्द्रिय परायणों का कल्याण कैसे हो ? संसार में फँसे हुए प्राणी किस सरल सुगम साधन के द्वारा श्रेय की प्राप्ति कर सकते हैं ? हम जैसे अज्ञों के हित का कोई उपाय बतावें।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! महाराज पृथु के ऐसे प्रश्न को सुनकर उन चारों कुमारों में से सनत्कुमार कुछ हँसते हुए महाराज के प्रश्न का उत्तर देने को उद्यत हुए।"

छप्पय

अब हे दीन दयाल ! मोक्षको मार्ग बताओ।
कस होवे कल्यान सरलतातें समुझाओ॥
भटके भव मग माहिँ प्रभो ! अवलम्बन देवें।
भवजल डूबत नाव आप नाविक बनि खेवें॥
तीनों तापनितें तापित, कबतें जगमहँ भ्रमि रहे।
दुखित देखि दरशन दये, भई शान्ति तव पद गहे॥

[इसके आगे की कथा तेरहवें खण्ड में पढ़िये]

सचित्र

"भागवत चरित"

(सप्ताह)

लेखक—श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

अब तक ४० हजार के ८ संस्करण हाथों हाथ बिक चुके हैं। २ हजार का नौवाँ संस्करण सब प्रकार संशोधित और ७० से अधिक 'माहात्म्य' के छप्पयों से परिपूर्ण छपकर तैयार है।

जिन लोगों ने श्री ब्रह्मचारीजी द्वारा लिखित "भागवती कथा" पढ़ी होगी, उसे विदित होगा कि इसमें प्रत्येक अध्याय के आदि और अन्त में एक छप्पय होती है। ये छप्पय परस्पर में सम्बन्धित होती हैं। केवल छप्पयों को ही पढ़ते जाइये तो पूरी कथायें क्रम-बद्ध हो जायँगी। कहना चाहिये 'भागवती कथा' इन छप्पयों का भाष्य मात्र ही है। इन सब छप्पयों को सात भागों में बाँटकर उनमें भी अध्याय बना दिये गये हैं। बीच-बीच में कथा प्रसङ्ग जोड़ने को दोहा, सोरठा, छन्द तथा पद भी सम्मिलित कर दिये हैं। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र, उनके समस्त अवतार और उनके भक्तों के चरित्र से युक्त यह काव्य साहित्य की एक अभूतपूर्व वस्तु हो गई है। भगवद्भक्तों के लिये तो रामायण की भाँति पाठ करने के लिये यह अलौकिक वस्तु है। सात दिनों में परायण करने से भागवत सप्ताह का पूर्ण फल इससे प्राप्त हो जायगा। मोटे सुन्दर चिकने कागज पर इसे छापा गया है। एक हजार के लगभग पृष्ठ वाले इस महाकाव्य में सैकड़ों सादे और रङ्गीन चित्र भी हैं। न्योछावर सजिल्द ५१ रुपया। डाक व्यय अलग। आज ही पत्र लिखकर अपनी प्रति मँगा लें।

॥ श्रीहरिः ॥

पूज्य श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१–भागवती कथा—११८ खंडों में, प्रतिखंड का मू० १०.०० डाक व्यय पृथक्

२–श्रीमद्भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ५१.००

३–सटीक भागवत चरित (दो खण्डों में)—एक खण्ड का मू० ७५.००

४–बदरीनाथ दर्शन—बदरीनाथ यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० २५.००

५–महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृष्ठ सं० ३५० मू० २०.००

६–मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० ८.००

७–भक्तचरितावली—(दो भागों में) प्रत्येक का मू० १०.००

८–मुक्तिनाथ दर्शन—मू० ८.०० ९–गोपालन शिक्षा मू० ८.००

१०–श्री चैतन्य चरितावली (पाँच खण्डों में) सजिल्द मू० ५०.००

११–श्रीकृष्ण लीला दर्शन (तीन खण्डों में) मू० ३६.००

१२–श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ३.००

१३–शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० २.००

१४–मेरे महामना मालवीयजी—मू० २.०० १५–बाल महाभारत मू० ८.००

१६–भारतीय संस्कृति और शुद्धि (शास्त्रीय विवेचन) मू० २.००

१७–गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) मू० २.००

१८–सत्यनारायण की कथा—छप्पय छन्दों सहित मू० ४.००

१९–हर्र ! हर्र !! हर्र !!! हरीतकी रसायन मू० ५.००

२०–भागवत चरित संगीत सुधा ४.०० २८–प्रयाग माहात्म्य— मू० १.००

२१–श्रीकृष्ण चरित— मू० ८.०० २९–वृन्दावन माहात्म्य— मू० १.००

२२–महावीर हनुमान्— मू० १०.०० ३०–विल्व फल अमृत फल मू० ५.००

२३–सार्थ छप्पय गीता– मू० २०.०० ३१–नर्मदा दर्शन— मू० २०.००

२४–श्री हनुमत् शतक— मू० ३.०० ३२–श्रीछप्पय दुर्गा सप्तशती मू० ६.००

२५–छप्पय विष्णु सहस्रनाम मू० ७.०० ३३–नाम संकीर्तन महिमा मू० ४.००

२६–भागवती कथा की बानगी-मू० ३) ३४–भागवत चरित की बानगी– ३)

२७–प्रभुपूजा पद्धति— मू० २.०० ३५–निःश्वास— मू० १.००

पुस्तकों के आर्डर के साथ पूरा मूल्य एवं डाक खर्च चुका देने पर आपके पास रजिस्ट्री से पुस्तकें भेज दी जायेंगी।

पता–व्यवस्थापक संकीर्तन भवन प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग, पिन २२१५०६